● प्रकाशक .

शाह चतुरदास चीमनलाल
श्री 'दिव्यदर्शन' साहित्य समिति
कालुशीनी पोल, अहमदाबाद

प्राप्तिस्थान ·

(१) चतुरदास चीमनलाल शाह
कालुशीनी पोल, अहमदाबाद

(२) बाबूलाल पूनमचंद शाह
(जावाल वाला)
पटेल बिल्डिंग, ऊंझा फार्मसी सामे,
ऊंझा (उ० गुजरात)

(३) पुखराज धरमचंद
पिंडवाडा-स्टेशन सिरोही-रोड)

(४) विजयकुमार दिलीपकुमार सर्राफ
शिवगंज (राजस्थान)

● प्रथम आवृत्ति
वीर संवत् २४९२
वि० सं० २०२२
ई० स० १९६५

● मुद्रक :
श्री कृष्णा आर्ट प्रेस,
ब्यावर (राज०)

● मूल्य [illegible]) रुपया

श्री दिव्यदर्शन - साहित्य समिति के प्रकाशन

卐

ग्रन्थ (गुजराती)	किंमत :
१. योगदृष्टि समुच्चय पीठिका ...	२·००
२. गंगा प्रवाह (शोधक-प्रवचनो) .	१·५०
३. वार्ता-विहार (मननीय कथाएं) .	१·००
४. निश्चय—व्यवहार .. .	२·००
५. गुणसेन-अग्निशर्मा	२·००
६. परमतेज भा. १ (ललितविस्तरा)	६·००
७. ,, ,, २ (,,)	प्रेस में
८. जैन धर्मनो सरल परिचय ...	१·५०
९. अरिहंतनी ओलखाण	१·२५
१०. प्रकरण—दोहन	१·२५
११. मार्गानुसारी जीवन	००·५०
१२. गणधरवाद	००·५०
१३. षोडशक	००·७५
१४. श्री विशेषावश्यक-भाष्य (संस्कृत) भाग १ अंश १-२, भाग २ तीनों का सेट . .	३६·००
१५. श्री ललितविस्तरा (हिन्दी) ..	८·००

|| ऐं नमः ||

★ प्रकाशकीय निवेदन ★

सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थङ्कर भगवान् के अनेकान्तवादी व स्व-पर-अहिंसा-प्रधान धर्मशासन में अर्हत् परमात्मा और जिनशासन के सर्वातिशायी वैशिष्ट्य के प्रतिपादक कई शास्त्र हैं। इन में 'श्री ललितविस्तरा' एक विशिष्ट कोटि का शास्त्र है। यह प्रकाण्डविद्वान्, स्वपरागममर्मज्ञ, समर्थ तार्किक १४४४ शास्त्र-सूत्रधार आ० भगवान् श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज की यह अनन्य कृति है। आपकी असाधारण प्रतिभा व सूक्ष्म तत्त्वावगाहक शक्ति इस ग्रन्थ में स्पष्ट द्योतित हो रही है। यह ग्रन्थ नित्यविहित चैत्यवन्दन-स्वरूप मंगलमय अर्हद्भक्ति-अनुष्ठान में उपयुक्त प्रणिपातदण्डक-सूत्र – शक्रस्तव, अपरनाम 'नमोत्थुणं', चैत्यस्तव–'अरिहंत चेइयाणं' चतुर्विंशति-स्तव–'लोगस्स', श्रुतस्तव–'पुक्खरवर०' सिद्ध-स्तव–'सिद्धाण बुद्धाणं', प्रणिधान-सूत्र 'जय वीयराय' इत्यादि के विवेचन स्वरूप है।

यह ललितविस्तरा विवेचना भी सूत्र-रूप सी है। शब्द संक्षिप्त व अर्थगम्भीर है, तर्कभाषाबद्ध व रहस्यपूर्ण है। जटिल दार्शनिक पदार्थ व सूक्ष्म आगमिक तत्त्व बहुत परिमित शब्दों से उल्लिखित है। इसलिए स्वपर-तन्त्रकुशल आचार्य श्री मुनिचन्द्रसूरिजी महाराज ने इस ग्रन्थ पर संक्षिप्त किन्तु पदार्थोद्घाटनकारी 'पंजिका व्याख्या' लिखी है। इसी से मूल विवेचनाकार के प्रौढ लेख को समझने में सहारा मिलता है।

इन सूत्रों में प्रधान सूत्र 'प्रणिपात-दंडक सूत्र' वीतराग सर्वज्ञ श्री अरिहंत परमात्मा की स्तुति रूप है। जैन दर्शन की यह विशेषता है कि परमात्मपद का अधिकारी किसी एक ही व्यक्ति को नहीं माना है। यह तो कहता है कि अनादि काल से इतर जीवों की अपेक्षा जात्यरत्न की तरह विशिष्ट योग्यता-संपन्न आत्मा पुरुषार्थवश कालक्रम से परमात्म-पद के उच्च स्तर पर पहुँचती रहती है। ऐसे जीव अन्तिम भव के पूर्व तृतीय भव में अरिहंत-सिद्ध-प्रवचन आदि बीस-स्थानक के एक या अनेक पद की ज्वलन्त उपासना करके अर्हत्पद-प्रापक 'तीर्थङ्कर नामकर्म' संज्ञक उत्कृष्ट पुण्य उपार्जन करते हैं। चरमभव में जब माता के गर्भ में आते हैं, तब देवलोक में देवों का स्वामी शक्र-इन्द्र अवधिज्ञान से जान कर सिंहासन से नीचे उतर कर प्रस्तुत प्रणिपात-दंडक-'नमोत्थुणं' सूत्र से भगवान की स्तुति करता है, अतः सूत्र का दूसरा नाम शक्रस्तव है। चैत्य अर्थात् अर्हत् प्रतिमा को वंदना करने के लिए भी इसी सूत्र का उपयोग होता है।

इस 'नमोत्थुणं' के विवेचन में आ० श्री हरिभद्रसूरिजी महाराज ने पद-पद पर (i) दार्शनिक विचारधाराओं की तटस्थ भाव से तर्कपूर्ण समीक्षा, (ii) एवं अर्हत्परमात्मा के विशिष्ट स्वरूप-शक्ति आदि का सतर्क प्रतिपादन किया है।

'नमोत्थुण' सूत्र के बाद 'अरिहन्त-चेइयाणं' चैत्यस्तव सूत्र पर विवेचना है। इस में अर्हत चैत्यो के वंदन-पूजन-सत्कार-सन्मान, बोधिलाभ-निरुपसर्ग कायोत्सर्ग के ये ६ निमित्त व श्रद्धा-मेधा धृति-धारणा व अनुप्रेक्षा यह ५ साधन युक्तिक सदृष्टान्त सुचारुरूप से बताये हैं। इस से जिनचैत्य के वन्दनादि लाभ हेतु कायोत्सर्ग करने की सज्जता प्रगट की जाती है। उस मे प्रबल और विशुद्ध मनोभाव आवश्यक है। जिनप्रतिमा प्रशस्त समाधियुक्त चित्त को उत्पन्न करती है, अत. वह चैत्य जिनप्रतिमा कहलाती है। चैत्य के वंदन-पूजनादि की विवेचना मे साधु को द्रव्य-स्तव की अनुमति, द्रव्यस्तव कराने की भी उपपत्ति, द्रव्यस्तव की निर्दोषता पर 'सर्पभयपुत्राकर्षण' उदाहरण, श्रावक को कायोत्सर्ग में अनुमोदन द्वारा अधिक लाभाकाक्षा, आज्ञायुक्तप्रवृत्तिकी सफलता, ६ निमित्त व ५ साधनो की स्पष्टता, श्रवण-पाठ-प्रतिपत्ति, इच्छा - प्रवृत्ति-विघ्नजय, इक्षु-रस-गुड आदि के साथ श्रद्धादि की तुलना, कषायकटुतानिवारण पूर्वक शममाधुर्य-सपादन, कायोत्सर्ग का महत्व इत्यादि कई बातें बताइ गई।

बाद मे 'अन्नत्थ' सूत्र के विवेचन में कायोत्सर्ग के आगारों (अपवादों) का स्पष्टीकरण व विभाग, भक्त को आगार की अपेक्षा क्यों ? कायोत्सर्ग का स्वरुप, ध्यान के अनेक विषय, नियत ध्येय के ध्यान का प्रभाव इत्यादि वर्णित है।

'लोगस्स०' चतुर्विंशति-स्तव सूत्र के विवेचन में 'लोक' का विशिष्ट अर्थ, अरिहन्त के विशेषणों के वैशिष्ट्य, २४ तीर्थङ्कर भगवान का नाम-कीर्तन, अवतारवाद का खडन, जिन के अनेक प्रकार, 'पसीयंतु' पद से प्रार्थना क्यों नहीं ? वीतराग की प्रार्थना मानने में अनुचित अर्थापत्ति, अग्नि-चिन्तामणि के दृष्टान्त से अर्हद्-उपासना का साफल्य, स्तुतिफल के प्रति स्तुतिविषय का महत्त्व, निदान का लक्षण, मोहगर्भ निदान का स्वरुप वगैरह बताये गये है।

'पुक्खर-वर०' श्रुतस्तव सूत्र मे भगवान के द्वारा कथित आगम-श्रुत की स्तुति की जाती है, आगम द्वारा उन भगवान और उन से कथित पदार्थो का स्पष्ट बोध होता है, अत यह कीर्तन योग्य है, इसमे अपौरुषेय आगम की असभवितता, अर्थ-ज्ञान-शब्दरूप आगम, जिनमत सिद्ध-प्रतिष्ठित प्रख्यात कैसे, प्रतिदिन ज्ञानवृद्धि का कर्तव्य, श्रुतधर्मवृद्धि से असग द्वारा मोक्ष, वगैरह स्पष्ट किये गये हे।

'सिद्धाणं बुद्धाणं०' सिद्धस्तव सूत्र मे श्रुताराधना के फलभूत सिद्ध भगवान, वीर-स्तुति, नेमि-वदना, अष्टापद २४ जिनवदना, अनेकविध सिद्ध, मुक्त का गमन कैसे ? प्रणिधान से शुभ भाव-पूरण, स्त्रीमुक्ति में यापनीय तन्त्र का प्रमाण, स्त्रियों को शुक्लध्यान का सभव, अर्थवाद-विधिवाद वगैरह का निरूपण है।

'वेयावच्चगराणं०' सूत्र के विवेचन में विशेषतया कायोत्सर्ग कर्ता के आत्मभाव की सम्यग्दृष्ट्यादि अन्य आत्माओ में कैसे प्रेरकता होती है इसका सुन्दर समाधान है, जिससे भाव की असर के सबन्ध मे जिन शासन की शैली का परिचय मिलता है।

'जय वीयराय०' प्रणिधान सूत्र में वीतराग के आगे भवनिर्वेदादि शुभ भावों की याचना का वर्णन, प्रत्येक पद के भावोद्‌घाटन, भवनिर्वेदादि में प्रणिधान की ज्वलन्तता का उपदर्शन, प्रणिधान पर ११ द्वारों से विचारण, प्रणिधान की आवश्यकता व फल, प्रणिधान निदान से विलक्षण क्यों ? प्रणिधान के पांच आशय, अधिकारी, स्वरूप व सामर्थ्य वगैरह दर्शित किये है।

अन्त मे चैत्यवन्दन की सिद्धि के लिए ३३ विशिष्ट कर्तव्यादि सुचारु रूप से प्रतिपादित किये गये है। इस सूत्र एव अन्य सूत्रों के विवेचन में आत्मोत्थान के विविध उपाय, क्रमबद्ध साधनामार्ग, जैनदर्शन की विशेषताए व अनेक सिद्धान्त इत्यादि का तर्क सहित व्यवस्थापन अद्‌भुत शैली से किया है। इतना ही नहीं, ग्रन्थ की भूमिका में चैत्यवन्दन का माहात्म्य, धर्म के अधिकारी के लक्षण, ज्ञान प्राप्ति-परिणमन के अव्यभिचारी उपाय वगैरह दिया है।

साराश, जैन दर्शन की प्रमाणसिद्ध स्वतत्र असाधारण दृष्टि का काफी परिचय इस महाशास्त्र में मिलता है, यह विषयानुक्रम देखने से ध्यान में आयेगा।

इस महाशास्त्र का पूरा परामर्श किया जाय तो वीतराग सर्वज्ञ अरिहन्त परमात्मा के प्रति आकर्षण व उनके स्याद्वादी-दर्शन पर अनन्य श्रद्धा स्थापित होगी। पवित्र आत्मवादी कल्याण सस्कृति पर आस्था हो जीवन मे परलोक-दृष्टि, अनन्य अर्हद्‌भक्ति-उपासना-सवेग, वैराग्य-नम्रता-जिनाज्ञापालन वगैरह प्रधान बन जायेंगे।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सशोधन मे हस्तलिखित प्रति (१) श्री जैन ज्ञानभडार, सवेगी उपाश्रय, हाजा पटेल की पोल, अहमदावाद से व (२) भांडारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना से प्राप्त हुई। सशोधन करते कई शुद्ध पाठ व पाठान्तर मिले है, इस ग्रन्थ के प्रत्यन्तर व प्रुफ सशोधनादि में पू० मुनि श्री पद्मसेनविजयजी आदि मुनिओं का सहकार प्राप्त हुआ है। अत इन सब के प्रति हम आभार प्रदर्शित करते हुए श्रुत-भक्ति की अनुमोदना करते हैं।

विशेष में बालजीवों को अपनी मातृभाषा में बोध हो इसलिए न्यायनिपुण पूज्य पंन्यास श्री भानुविजयजी गणिवरश्रीजी ने 'हिन्दी ललितविस्तरा विवेचन' और गुजराती में विवेचना 'परमतेज' (भाग-१ प्रगट, (भाग-२ प्रेस में) किया है, और दिव्यदर्शन साहित्य समिति ने प्रगट किया है। यह ग्रन्थ गभीर तत्त्वप्रकाशक एवं अति मननीय है।

यह ग्रन्थ अब मुद्रित रूप मे जिज्ञासुओं के आगे प्रकाशित किया जाता है। प्रकाशन में एक और विशेषता यह है कि सस्कृत मूल ग्रन्थ एवं पजिका टीका में भिन्न भिन्न विषयो के अलग अलग प्रेरेग्राफ दिये गये हैं और वे भी विषय-शीर्षक कोष्ठक में देने के साथ टीका में मूल के पदों को ब्लेक टाईप व परिवर्तित विराम (' ') Inverted comas देकर इनके अर्थ को विराम से अलग बताये गये है। यह सब वाचक को आसानी से ग्रन्थ लगाने में अतीव उपयुक्त बना है।

  

❖ श्री ललितविस्तरा-विषयानुक्रमः ❖

❖ ❖ ❖

श्री ललित विस्तरा–शुद्धि पत्रकम्

पृष्ठ०	पंक्ति	अशुद्धः	शुद्धः
२	१३	श्यामला०	ध्यामला०
२	१६	तदुपकारवान्	तदुपकारवान् ,अवि-कसदशाबुद्धिकयोस्तु प्रमोद-माध्यस्थ्य गोचरतयाऽतोनुप - कारात ।
३	१	(ल०-) नि०	(ल०-)अत्रोच्यते नि०
३	४	(पं०)-	(पं०)- अत्र 'उच्यते' = प्रतिविधीयते ।
३	६	(ल०-)'ना०	(ल०-)आह 'ना०
३	१३	स्थानं मा०	स्थानविरोधो मा०
४	१६	विधाप्य०	विधावप्य०.
४	२५	वि म्भन्ते	विजृम्भन्ते
५	६	काला०	सुन्दरकाला०
५	२२	वचनोक्तमेव	वचनोक्त एव
७	८	(ल०-चैत्यवन्दन वि०)	(ल०-चैत्यवन्दन-पूर्वविधि)
८	२३	कारक हेतु	कारकत्वात्हेतु'
१०	२४	(प०-) 'उ०	((प०-) उक्तस्येत्यादि 'उ०
११	२२	इत्यादि ।	इत्यादि ।
१३	६	द्वेत,	द्वैत,
१३	२७	इति ।	इति योऽर्थ ।
१५	१५	इतच'	इतच्'
१६	१	प्रवज्याया-	प्रव्रज्याया
१६	१४	निवोवत ।।	निवोधत इत्यादि ग्रन्थो दृश्य । (योग-दृष्टि समु० श्लो० १२-१३)
२६	६	'तयो'	'तयोः'
२८	२६	सति	सवि
३०	२६	नीतत्यन्ता०.	.नीतात्यन्ता०
३२	२८	एव, तथा०	एव, तया तथा०
३४	२७	वहारिक भेद०	वहारिकादिभेद०
३६	५	हेतुत्वमनेका०	हेतुत्वमेका०
३६	२५	० काग्निवत्	० काग्नित्ववत
३७	२७	सत्येऽपि	सत्यपि
३८	१२	तत् किमि०	तत किमि०
३९	२०	प्रद्योतक०	भगवतां प्रद्योतक०
४०	११	'तत्तुल्यमेव' =	'तत्तुल्यमेव' प्रथम-दृष्टसममेव, 'दर्शन'–वस्तुबोधम् , 'अकुर्व्वन्' -अविदधानो, न तेनेव'=
४१	२०	'अपुष्कल०	'अपुष्कल०
४२	१२	०दिभि रूपा०	० दिभिरूपा०
४२	२५	सन्निहितोपद्रवैः	सन्निहितभयोपद्रवैः
४८	२६	अनन्तरोदितम्	अनन्तरोक्तम्
५०	२४	धर्ा	धर्म
५१	२१	म सपत्न०	मसपत्न०
५४	२०	प्रामान्ध्य०	प्राप्तावन्ध्य०
५७	२	। वर	। स एव वर
५७	६	परिशुद्ध'	परिसुद्ध
५८	६	दीनाम्,	दिज्ञेयानाम्
५९	२५	व्यावृत्तलक्ष्म०	व्यावृत्तलक्ष्म०)
५९	२७	व्यावृत्त	(प्र० एव) व्यावृत्तं
६१	१	(ल०-भान्तिर्नि०)	(ल०-भ्रान्तिर्न०)

पृष्ठः	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६१	१५	'यदभ्युपगमे' =	'तदभ्युपगमे' =
६१	२७	रविकरा०	रविकारा०
६२	२३	ऋत्नार्त०	ऋत्त्रावर्त्त०
६४	६	लिङ्गमभि	लिङ्गाभि
६५	३	मुक्तानां	मुक्तानां(प्र० युक्तानां)
६५	१३	उपचयया०	उपचया०
६५	१५	मापन्न' स	मापन्न (प्र० मासन्न स)
६६	७	वसितमर्थ	वसितमर्थं
६६	८	(अ० महा०)	(प्र० महा०)
६७	१६	(प्र० दु खाद्य- नु भवात्)	(प्र० दु खाद्यनुभवत
६७	१६	भावतत्वो	भावत्वो
६७	१७	०त्वोपपपत्तो	त्वो(प्र० भावो)- पपत्ते
६८	६	चामूर्त्तत्वे	चामूर्ते
६८	१६	मुक्ताव०	मुक्त्यव०
६८	१७	'विपय०	'विपय०
६८	२२	नेनैव।	ननैव इति।
७०	११	व्यावाधम्,	व्यावाधमव्यावाधम्,
७१	२	ब्रह्मस्कु०	ब्रह्मविस्कु०
७१	२८	जितस्य०	जितभय०
७२	७	शुद्धिगम्यस्य	शुद्धिजन्यस्य
७३	१९/२०	'तत्तद्बीजा०	'तत्तद्वीजा०
७४	१	०रीयकं	०रीयक
७७	२०	'अन्यश्च'	'अन्यच्च'
७८	३	प० स्थानर्णा०	प्र० स्थानवर्णा०
७८	१८	(अर्हच्चैत्येभ्य)	(अर्हच्चैत्यानाम्)
८३	२०	तथातयो०	यथा तयो०
८३	२३	०भेदवती' =	०भेदवती'ति =

पृष्ठ	पंक्तिः	अशुद्ध	शुद्ध
८४	१२	वाह।	वाहम्।
८५	६	तदादरादि भवति,	तदादरादि, इति भवति
८६	८४	भण्यते,।	भण्यते, तेन।
८६	२७	अङ्गञ्चारै	अङ्गसञ्चारै
८७	६	कुर्त्वतो	कुर्व्वतो०
८८	५	या विरई॥	याविरई॥
८८	१२	'अप्पाणं'-	'अप्पाण' ति-
९५	१२	सिद्धयै (	सिद्धयै (
९५	१८	ऋद्धवयसिद्धे'	ऋद्धयसिद्धे'
९६	२३	अपौरुषेयकल्पना०	अपौरुषेयवचनकल्पना
१००	१	मम, 'तत्वत' =	मम, (प्र० वादिन तत्त्वत परमार्थत न केवलं मम) 'तत्त्वत.' =
१००	२०	०भवनवद्',	०भवनवत्'
१०४	१२	न्नाह-'अन०	आह-'एवम्'-अन०
१०४	१८	सुखसाधकत्वाद्	सुखलाभसाधकत्वाद्,
१०५	१४	'श्रुतग्रहणनियतं	'श्रुतमात्रनियत
१०६	१६	श्रुतस्य	श्रुतस्यैव
१०७	१६	व्यपो हा०	व्यपोहा०
१०८	१८	तश्चतुर्विधं	तच्चतुर्विध.
१०९	३	सिद्धवा'।	सिद्धया इति।
१०९	१४	वोभ्यम्	योभ्यम्
११३	४	एतास्तित्र:	एतास्तित्र
११४	२०	'तत्रोऽत्रे	'ततोऽत्रे'
११४	२६	०भेदभिन्नतया	०भेदभिन्न (प्र० न्ना) तया
११६	२	अवज्ञाविसवादि,	अवज्ञाविसावनादि,
११६	१५	सुवीज वा	सुवीज (प्र० सद्धन्दना सवीज) वा

इस पुस्तक में मुद्रण में से छूट गये पाठ में लगा देने के लिए

पेज नं० ४ पंक्ति ४

(पं०) अर्थीत्यादि । 'अर्थी' = धर्माधिकारी प्रस्तावात्तदभिलाषातिरेकवान् । 'समर्थो' = निरपेक्ष-तया धर्ममनुतिष्ठन् न कुतोऽपि तदनभिज्ञाद् बिभेति । 'शास्त्रेण' = आगमेन । 'अपर्युदस्तः' = अप्रति-कुष्ट. । स च एव लक्षणो यः (१) त्रिवर्गरूपपुरुषार्थचिन्तायां धर्ममेव बहुमन्यते, (२) इहलोकपरलोक-योर्विधिपरो, (३) ब्राह्मणादिस्ववर्णोचितविशुद्धवृत्तिमांश्चेति । 'विधिपरा' इति, विधिः = इहलोकपरलोक-योरविरुद्धफलमनुष्ठान, स पर.=प्रधान येषां ते, तथा उचितवृत्तय' इति = स्वकुलाद्युचितशुद्धजीवनोपाया इति,

पेज नं० ५ पंक्ति १

(६-१०) गुरुविनयः, सत्कालापेक्षा, उचितासन, युक्तस्वरता, पाठोपयोग । तथा, (११-१५) लोकप्रियत्व, अगर्हिता क्रिया, व्यसने धैर्य , शक्तितस्त्यागो, लब्ध-लक्ष्यत्वं चेति । एभिस्तद्-धिकारितामवेत्यैतदध्यापने प्रवर्तेत, अन्यथा दोष इत्युक्त ।

(पं०) ३ 'तेष्वनुकम्पे'ति । तेषु = चैत्यवन्दननिन्दकेषु, अनुकम्पा = दया, यथा 'अहो कष्टं ! यदेते तपस्विनो रजस्तमोभ्यामावेष्टिता विवशा हितेषु मूढा इत्थमनिष्टमाचेष्टन्त इति ।' ४. 'चेतसो न्यास' इति = अभिलाषातिरेकाच्चैत्यवन्दने एव पुन. पुनर्मनस. स्थापनं । ५ 'परा जिज्ञासे'

पेज नं० ४० पंक्ति ८

(ल०—) स हि येन स्वभावेनैकस्य सहकारी, तत्तुल्यमेव दर्शनमकुर्वन्, न तेनैवापरस्य तत्त्व-विरोधादिति भावनीयम् ।

(पं०) एतदेव भावयति 'स हि' = प्रकाशो(हि) 'येन स्वभावेन' आत्मगतेन 'एकस्य' द्रष्टु., 'सहकारी' = सहायो दर्शनक्रियायां साध्यायां, 'तत्तुल्यमेव' प्रथमद्रष्टृसममेव 'दर्शन' वस्तुबोधम् 'अकुर्वन्' अविदधानो, न 'तेनैव' = प्रथमद्रष्टृसहकारिस्वभावेन (एव), अप-

पेज नं० ७२ ग पंक्ति २७

इत्यल प्रसंगेन । (पं०-) 'तस्मात्' = वचनमात्रस्याप्रामाण्यात् 'यथाविषय' = कषादिसर्वविषयान-तिक्रमेण, 'त्रिकोटिपरिशुद्धविचारशुद्धित' = तिसृभि. कषच्छेदतापलक्षणाभिरादिमध्यावसानाविसंवाद-लक्षणाभिर्वा कोटिभि , 'परिशुद्धो = निर्दोषो यो 'विचारो' = विमर्श , तेन या 'शुद्धि.' = वचनस्य निर्दोषता, तस्या सकाशात् 'प्रवर्तितव्य' हेयोपादेययो' ।

(ल०- बहुनमस्कारे लाभ) तदेवमर्हतां बहुत्वसिद्धिः, विषयबहुत्वेन च नमस्कर्तुः फलातिशयः सदाशयस्फातिसिद्धे आह—'एकया क्रियया अनेकविषयीकरणे, कैवाशयस्फाति ॥१॥'

ॐ अर्हं नमः

प्रकाण्डविद्वत्-समर्थशास्त्रकारा-ऽऽचार्यपुरंदरश्रीहरिभद्रसूरीश्वर-विरचिता

(चैत्यवन्दनसूत्र-विवेचनरूपा)

श्री ललितविस्तरा

तदीया च स्वपरतन्त्रकुशला-ऽऽचार्यवर्यश्रीमुनिचन्द्रसूरिरचिता

पञ्जिका व्याख्या

××० ०××

(ललित०-) **प्रणम्य भुवनालोकं महावीरं जिनोत्तमम्। चैत्यवन्दनसूत्रस्य व्याख्येयमभिधीयते ॥१॥**

(पञ्जिका)- नत्वानुयोगवृद्धेभ्यश्चैत्यवन्दनगोचराम्। व्याख्यास्यामि क्वचित्किंचिद् वृत्तिं ललितविस्तराम् ॥१॥
यां बुद्ध्वा किल सिद्धसाधुरखिलव्याख्यातृचूडामणिः, संबुद्धः सुगतप्रणीतसमयाभ्यासाच्चलच्चेतनः।
यत्कर्तुः स्वकृतौ पुनर्गुरुतया चक्रे नमस्यामसौ, को ह्येनां विवृणोतु नाम? विवृतिं स्मृत्यै तथाप्यात्मनः ॥ २ ॥
शास्त्रान्तरदर्शनतः, स्वयमप्यूहात्सुगुरूपदेशाच्च। क्रियते मयैष दुर्गमकतिपयपदभञ्जिकारम्भः ॥ ३ ॥ (युग्मम्)

तत्राचार्यः शिष्टसमाचारतया विघ्नोपशमकतया च मंगलं, प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यर्थमभिधेयं, सप्रसङ्गं प्रयोजनं सामर्थ्यगम्यं सम्बन्धं च वक्तुकाम आह '**प्रणम्य भुवनालोकं** ।' तत्र '**प्रणम्य**'=प्रकर्षेण नत्वा, '**भुवनालोकं**', **भुवनं**=जगत्, '**आ**' इति विशेषसामान्यरूपविषयभेदसामस्त्येन, **लोकते**-केवलज्ञानदर्शनाभ्यां बुध्यते, य स तथा तं, कमेवंविधमित्याह '**महावीरं**'=अपश्चिमतीर्थपतिं, '**जिनोत्तमं**'=अवध्यादिजिनप्रधानं, '**चैत्यवन्दनसूत्रस्य**'=प्रतीतस्य '**व्याख्यां**'=विवरणम्, '**इयं**'=अनन्तरमेव वक्ष्यमाणा, '**अभिधीयते**=प्रोच्यत इति ॥ १ ॥ सम्प्रत्याचार्यः प्रतिज्ञातव्याख्याकृत्स्नपक्षाक्षमत्वमात्मन्याविष्कुर्वन्नाह-

(ल०-) **अनन्तगमपर्यायं सर्वमेव जिनागमे । सूत्रमतोऽस्य कार्त्स्न्येन व्याख्यां कः कर्तुमीश्वरः ॥ २ ॥**

(पं०-) **अनन्ताः**=अनन्तनामकसंख्याविशेषानुगताः, **गमाः**=अर्थमार्गाः, **पर्यायाश्च**=(अवस्थाविशेषाः) उदात्तादयोऽनुवृत्तिरूपाः पररूपाभवनस्वभावाश्च व्यावृत्तिरूपाः, यत्र तत्तथा (अनन्तगमपर्यायं); **सर्वमेव**=अगतादि निरवशेषं, **जिनागमे**=अर्हच्छासने, **सूत्रं**-शब्दसन्दर्भरूपं, **यतो**=यस्माद्धेतोः । 'ततः' इति गम्यते (अध्याहारेण), **अस्य**=सूत्रस्य, **कार्त्स्न्येन**=सामस्त्येन, **व्याख्यां**=विवरणं, **कः कर्तुं**=विधातुम्, **ईश्वरः**=समर्थः? अयं हि 'किं' शब्दो (१) अस्ति क्षेपे 'स किं सखा योऽभिद्रुह्यति?।' (२) अस्ति

प्रश्ने 'किं ते प्रियं करोमि ?' (३) अस्ति निवारणे- 'किं ते रुदितेन ?' (४) अस्त्यपलापे 'किं ते धारयामि ?' (५) अस्त्यनुनये 'किं ते अहं करोमि ?' (६) अस्त्यवज्ञाने 'कस्त्वामुल्लापयते ?'। इह त्वपलापे, नास्त्यसौ यः सूत्रस्य कार्त्स्न्येन व्याख्यां कर्तुं समर्थः इत्यभिप्रायोऽन्यत्र चतुर्दशपूर्वधरेभ्यः। यथोक्तम्—'शक्नोति कर्तुं श्रुतकेवलिभ्यो, न व्यासतोऽन्यो हि कदाचनापि' इति। जिनागमसूत्रान्तर्गतं च चैत्यवन्दनसूत्रमतोऽशक्यं कृत्स्नव्याख्यानमिति ॥ २ ॥

इत्थं कृत्स्नव्याख्यापक्षाशक्ताविरतपक्षाश्रयणमपि सफलतया वक्तुकामः श्लोकद्वयमाह—

(ल०—) यावत्तथापि विज्ञातमर्थजातं मया गुरोः। सकाशादल्पमतिना, तावदेव ब्रवीम्यहम् ॥ ३ ॥
ये सत्त्वाः कर्मवशतो मत्तोऽपि जडबुद्धयः। तेषां हिताय गदतः सफलो मे परिश्रमः ॥ ४ ॥

(पं०—) **यावत्**=यत्परिणामं, **तथापि**—कृत्स्नव्याख्याऽशक्तिलक्षणो यः प्रकारस्तस्मिन् सत्यपि, **विज्ञातं**=अवबुद्धम्, **अर्थजातम्**=अभिधेयप्रकारस्तत्समूहो वा, प्रक्रमाच्चैत्यवन्दनसूत्रस्य, **मया** इत्यात्मनो निर्देशः, **गुरोः**=व्याख्यातुः, **सकाशात्**=सन्निधिमाश्रित्य, कीदृशेनेत्याह **अल्पमतिना**, अल्पा=तुच्छा गुरुमत्यपेक्षया, **मतिः**=बुद्धिर्यस्य स तथा तेन, **तावदेव**=विज्ञातप्रमाणमेव, अविज्ञातस्य वक्तुमशक्यत्वात्, **ब्रवीमि**=वच्मि अहं कर्तेति। अल्पमतिनेत्यनेन चेदमाह, कदाचिदधिकधीर्गुरोः शृण्वंस्ततोऽधिकमपीदमवैति, 'स्यामलादपि दीपात्तु निर्मलः स्यात्स्वहेतुतः'—इत्युदाहरणात्। तत्समधीश्च तत्समं, अहं त्वल्पमतित्वाद् गुरुनिरूपितादपि हीनमेवार्थजातं विज्ञातवानिति तदेव ब्रवीमि ॥ ३ ॥

ये इति अनिरूपितनामजात्यादिभेदाः, **सत्त्वाः**=प्राणिनः, **कर्मवशतो**—ज्ञानावरणाद्यदृष्टपारतन्त्र्यात्, **मत्तोऽपि**=मत्सकाशादपि, नान्यः प्रायो मत्तो जडबुद्धिरस्तीतिसम्भावनार्थं 'अपि' शब्दः, **जडबुद्धयः**=स्थूलबुद्धयो, विचित्रफलं हि कर्म, ततः किं न सम्भवतीति, **तेषां**=जडबुद्धीनां, **हिताय**=पथ्याय, **गदतो**=विवृण्वतः **सफलो**=बोधलक्षणतदुपकारवान्, **मे**—मम, **परिश्रमः**=व्याख्यानरूपः ॥ ४ ॥

इह चेष्टदेवतानमस्कारो मङ्गलं, चैत्यवंदनार्थोऽभिधेयं, तस्यैव व्याख्यायमानत्वात्, कर्तुस्तथाविधसत्त्वानुग्रहोऽनन्तरं प्रयोजनं, श्रोतुश्च तदर्थाधिगमः, परंपरं तु द्वयोरपि निःश्रेयसलाभः, अभिधानाभिधेयलक्षणो व्याख्यानव्याख्येयलक्षणश्च संबंधो बोद्धव्यः। 'इतिः' मङ्गलादिनिरूपणासमाप्त्यर्थः ॥ ४ ॥

(ल०—) अत्राह—चिन्त्यमत्र साफल्यं, चैत्यवंदनस्यैव निष्फलत्वाद् इति।

(पं०—) **अत्र**=मंगलादिनिरूपणायां सत्यां, **आह**=प्रेरयति। **चिन्त्यं**=नास्तीति अभिप्रायः **अत्र**=चैत्यवन्दनव्याख्यानपरिश्रमे, **साफल्यं**=सफलभावः। कुत इत्याह 'चैत्यवन्दनस्यैव निष्फलत्वात्।' अत्र 'एव' शब्दो 'अपि'अर्थे। ततः पुरुषोपयोगिफलानुपलब्धेश्चैत्यवन्दनमपि निष्फलमेव, किं पुनस्तद्विषयतया व्याख्यानपरिश्रमः ? ततो यन्निष्फलं तन्नारम्भणीयं, यथा कण्टकशाखामर्दनं, तथा च चैत्यवन्दनव्याख्यानमिति व्यापकानुपलब्धिः। 'इति' परवक्तव्यतासमाप्त्यर्थः।

(ल०—) निष्फलत्वादित्यसिद्धम्, प्रकृष्टशुभाध्यवसायनिबन्धनत्वेन ज्ञानावरणीयादिलक्षण-कर्म्मक्षयादिफलत्वाद्, उक्तं च,

'चैत्यवन्दनतः सम्यक्, शुभो भावः प्रजायते । तस्मात्कर्म्मक्षयः सर्वं, ततः कल्याणमश्नुते' ॥ इत्यादि ।

(पं०)—'निष्फलत्वादित्यसिद्धम्'—'इतिः' हेतुस्वरूपमात्रोपदर्शनार्थं । ततो यन्निष्फलत्वं हेतुतयोपन्यस्तं, तद् असिद्धं=असिद्धाभिधानहेतुदोषदूषितम् । कुत इत्याह 'प्रकृष्ट .' इत्यादि । अयमत्र भावो—लोकोत्तरकुशलपरिणामहेतुश्चैत्यवन्दनं, स च परिणामो यथासम्भवं ज्ञानावरणीयादिस्वभावकर्म्मक्षयक्षयोपशमफल', कर्मादानाध्यवसायविरुद्धत्वात्तस्य । ततः कृत्स्नकर्म्मक्षयलक्षणपरमपुरुषार्थमोक्षफलतया चैत्यवन्दनस्य निष्फलव्याख्येयार्थविषयतया तद्व्याख्यानस्यानारम्भाऽऽसञ्जनमयुक्तमिति ।

(ल०—) 'नायमेकान्तो यदुत ततः शुभ एव भावो भवति, अनाभोग-मातृस्थानादेर्विपर्ययस्यापि दर्शनादिति' ।

(पं०—) एकान्त इति=एकनिश्चयः । अनाभोगेत्यादि, अनाभोगः=सम्मूढचित्ततया व्यक्तोपयोगाभावः । (मातृस्थानं—) दोषाच्छादकत्वात् संसारिजन्महेतुत्वाद् वा मातेव माता=माया, तस्याः स्थानं मातृस्थानम् । 'आदि' शब्दाचलचित्ततया प्रकृतस्थानवर्णार्थालम्बनोपयोगादन्योपयोगग्रहस्तस्माद्, विपर्ययस्यापि=अशुभभावस्यापि । शुभभावस्तावत्ततो दृश्यत एवेति सूचकोऽपि'शब्दः । दर्शनाद्=उपलम्भात् ।

(ल०—)अत्रोच्यते, सम्यक्करणे विपर्ययाभावात् । तत्सम्पादनार्थमेव च नो व्याख्यारम्भप्रयास इति । न ह्यविदिततदर्थाः प्रायस्तत्सम्यक्करणे प्रभविष्णवः इति ।

(पं—)अत्र—शुभभावानेकान्तप्रेरणायां, उच्यते='नानेकान्त' इत्युत्तरमभिधीयते । कथम्? सम्यक्करणे विपर्ययाभावात् । यत्र तु 'सम्यक्करणे विपर्ययाभाव' इतिपाठस्तत्र प्रथमैव हेतौ । अस्तु सम्यक्करणे शुभाध्यवसायभावेन विवक्षितफलं चैत्यवन्दनम्, परमकिंचित्करं तद्व्याख्यानमित्याशङ्क्याह तत्सम्पादनेत्यादि । तत्सम्पादनार्थं—चैत्यवन्दनसम्क्करणसम्पादनार्थम् ।

(ल०—) आह—लब्ध्यादिनिमित्तं मातृस्थानतः सम्यक्करणेऽपि शुभभावानुपपत्तिरिति । न, तस्य सम्यक्करणत्वासिद्धेः । तथाहि—प्रायोऽधिकृतसूत्रोक्तेनैव विधिनोपयुक्तस्याऽऽशंसादोषरहितस्य सम्यग्दृष्टेर्भक्तिमत एव सम्यक्करणं; नान्यस्य, अनधिकारित्वात्; अनधिकारिणः सर्वत्रैव कृत्ये सम्यक्करणाभावात् । श्रावणेऽपि तर्ह्यस्याधिकारिणो मृग्याः? को वा किमाह, एवमेवैतत् । न केवलं श्रावणे, किं तर्हि, पाठेऽपि, अनधिकारिप्रयोगे प्रत्युतानर्थभावात्, 'अहितं पथ्यमप्यातुरे, इति वचनप्रामाण्यात् ।

(पं०—) प्रायोऽधिकृतसूत्रोक्तेनैव विधिनेति, अधिकृतसूत्रं=चैत्यवन्दनसूत्रमेव, तत्र साक्षादनुक्तोऽपि तद्व्याख्यानोक्तो विधिस्तदुक्त इत्युपचर्यते, सूत्रार्थप्रपंचरूपत्वाद् व्याख्यानस्य । प्रायोग्रहणाद् मार्गानुसारितीव्रक्षयोपशमवतः कस्यचिदन्यथाऽपि स्यात् ।

(ल०--) अर्थी समर्थः शास्त्रेणापर्युदस्तो धर्मेऽधिक्रियते, इति विद्वत्प्रवादः; धर्मश्चैतत्पाठादि,

(पं०) अर्थीत्यादि । 'अर्थी' = धर्माधिकारी प्रस्तावात्तदभिलाषातिरेकवान् । 'समर्थो' = निरपेक्ष-तया धर्ममनुतिष्ठन् न कुतोऽपि तदनभिज्ञाद् बिभेति । 'शास्त्रेण' = आगमेन । 'अपर्युदस्तः' = अप्रति-कुष्ट । स च एव लक्षणो य. (१) त्रिवर्गरूपपुरुषार्थचिन्तायां धर्ममेव बहुमन्यते, (२) इहलोकपरलोक-योर्विधिपरो, (३) ब्राह्मणादिस्ववर्णोचितविशुद्धवृत्तिमांश्चेति । 'विधिपरा' इति, विधिः = इहलोकपरलोक-योरविरुद्धफलमनुष्ठानं, स परः=प्रधान येषां ते, तथा उचितवृत्तय' इति = स्वकुलाद्युचितशुद्धजीवनोपाया इति,

(ल०—) नहि विशिष्टकर्मक्षयमन्तरेणेत्थंभूता भवन्ति । क्रमोऽप्ययमीषामयमेव । न खलु तत्त्वत एतद्बहुमानिनो विधिपरा नाम, मोक्षसारत्वाद्विधिप्रयोगस्य । न चायं बहुमानाभावे, इति ।

(पं०—) ननु ज्ञानावरणादिकर्मविशेषे उपहन्तरि सति सम्यक्चैत्यवन्दनलाभाभावात् तत्क्षयवानेवा-धिकारी वाच्य', किमेतद्बहुमान्यादिविशेषणया ? इत्याह 'नहीत्यादि'। न=नैव, हिः=यस्माद्, विशिष्टकर्मक्षय., विशिष्टस्य=अन्तःकोटिकोटयधिकस्थितेः कर्मणो=ज्ञानावरणादे', क्षयो=विनाश , तम् अन्तरेण=विना, इत्थंभूता=एतद्बहुमान्यादिप्रकारमापन्ना, भवन्ति=वर्तन्ते । तत एतद्बहुमान्यादिरूपश्चक्रकर्मविशेषक्षयवानेवा-धिकारी, नापर इति । भवतु नामैवं, तथापि कथमित्थमेषामुपन्यासनियम इत्याह 'क्रमोऽपि' इत्यादि । 'न चायमि'ति, न च=नैव, अयं=भावः चैत्यवन्दनादिविषय' शुभपरिणामरूपः संवेगादि' विधिप्रयोगहेतुरिति ।

(ल०—) न चामुष्मिकविधाव्यनुचितकारिणोऽन्यत्रोचितवृत्तय इति; विषयभेदेन तदौचि-त्याभावात् । अप्रेक्षापूर्वकारिविजृम्भितं हि तत् ।

(पं०—) 'न चामुष्मिकत्यादि। न च=नैव। 'च'शब्द' उचितवृत्तेर्विधिपूर्वकत्वभावनासूचनार्थ.। आमुष्मिकविधौ=परलोकफले कृत्ये, किं पुनरैहिकविधाविति 'अपे'रर्थ.। अनुचितकारिणो=विरुद्धप्रवृ-त्तयः। अन्यत्र=इहलोके। उचितवृत्तयः=स्वकुलाद्युचितपरिशुद्धसमाचारा भवन्ति, परलोकप्रधानस्यैवेहाप्यौचि-त्यप्रवृत्तेः । तदुक्तम्—" परलोकविरुद्धानि कुर्वाण दूरतस्त्यजेत् । आत्मानं योऽतिसन्धत्ते सोऽन्यस्मै स्यात्कथं हित' ॥ " कुत एतदित्याह—'विषयभेदेन=भिन्नविषयतया, 'तदौचित्याभावात्' तयोः—इहलोकपरलोकयोः, औचित्यस्य दृष्टादृष्टापायपरिहारप्रवृत्तिरूपस्य अभावात् । यदेव ह्यमुष्मिन् परिणामसुन्दर कृत्यमिहापि तदेवेति विधिपरतापूर्वकमेवोचितवृत्तित्वमिति । प्रकारान्तरनिरसनायाह—' अप्रेक्षापूर्वकारिविजृम्भित हि तत्' अप्रेक्षा-पूर्वकारिणो ह्येवं वि म्भन्ते यदुतैकत्रानुचितकारिणोऽप्यन्यत्रोचितकारिणो भवेयुरिति ।

(ल०—) तदेतेऽधिकारिणो परमार्थप्रवृत्तैर्लिङ्गतोऽवसेया मा भूदनधिकारिप्रयोगे दोष इति । लिङ्गानि चैषां तत्कथाप्रीत्यादीनि; तद्यथा :

१ तत्कथाप्रीतिः, २ निन्दाऽश्रवणम्, ३ तदनुकम्पा, ४ चेतसो न्यासः, ५ परा जिज्ञासा । तथा,

(९-१०) गुरुविनयः, सत्कालापेक्षा, उचितासन, युक्तस्वरता, पाठोपयोग । तथा, (११-१५) लोकप्रियत्वं, अगर्हिता क्रिया, व्यसने धैर्य, शक्तितस्त्यागो, लब्ध-लक्ष्यत्व चेति । एभिस्तद्-धिकारितामवेत्यैतदध्यापने प्रवर्तेत, अन्यथा दोष इत्युक्त ।

(पं०) ३ 'तेष्वनुकम्पे'ति । तेषु=चैत्यवन्दननिन्दकेषु, अनुकम्पा=दया, यथा 'अहो कष्टं ! यदेते तपस्विनो रजस्तमोभ्यामावेष्टिता विवशा हितेषु मूढा इत्थमनिष्टमाचेष्टन्त इति ।' ४. 'चेतसो न्यास' इति=अभिलाषातिरेकाच्चैत्यवन्दने एव पुनः पुनर्मनसः स्थापनं । ५ 'परा जिज्ञासे'ति । 'परा'=विशेषवती, चैत्यवन्दनस्यैव जिज्ञासा=ज्ञातुमिच्छा । ७. 'सत्कालापेक्षे'ति=सन्ध्यात्रयस्वरूप-कालाश्रयणम् । ९. 'युक्तस्वरते'ति=परयोगानुपघातिशब्दता । १०. 'पाठोपयोग' इति । पाठे—चैत्यवन्द-नादिसूत्रगत एव, उपयोगो=नित्योपयुक्तता । १५. 'लब्धलक्ष्यत्वं चेति' । लब्धं=निर्णीतं सर्वत्रा-नुष्ठाने लक्ष्यं=पर्यन्तसाध्यं येन स तथा तद्भावस्तत्त्वं; यथा 'जो उ गुणो दोसकरो, न सो गुणो, दोसमेव तं जाण । अगुणो वि हु होइ गुणो, विणिच्छओ सुन्दरो जत्थ ॥' त्ति ।

(ल०—) आह 'क इवानधिकारिप्रयोगे दोष' इति ? उच्यते स ह्यचिन्त्यचिन्तामणि-कल्पम्, अनेकभवशतसहस्रोपात्तानिष्टदुष्टाष्टकर्मराशिजनितदौर्गत्यविच्छेदकमपि इदमयोग्यत्वाद् अवाप्य न विधिवदासेवते, लाघवं चास्यापादयति । ततो विधिसमासेवकः कल्याणमिव महद-कल्याणमासादयति । उक्तं च, "धर्मानुष्ठानवैतथ्यात्प्रत्यपायो महान् भवेत् । रौद्रदुःखौघजनको दुष्प्रयुक्तादिवौषधात् ॥" इत्यादि । अतोऽनधिकारिप्रयोगे प्रयोक्तृकृतमेव तत्त्वतस्तदकल्याणम्; इति लिङ्गैस्तदधिकारितामवेत्यैतदध्यापने प्रवर्तेत ।

(पं०—) क इवेति=कीदृशः ।

(ल०—) एवं हि कुर्वता आराधितं वचनं, बहुमतो लोकनाथः, परित्यक्ता लोकसंज्ञा, अङ्गीकृतं लोकोत्तरयानं, समासेविता धर्मचारितेति । अतोऽन्यथा विपर्ययः । इत्यालोचनीय-मेतदतिसूक्ष्माभोगेन । न हि वचनोक्तमेव पन्थानमुल्लङ्घ्यापरो हिताप्त्युपायः । न चानुभवाभावे पुरुषमात्रप्रवृत्तेस्तथेष्टफलसिद्धिः ।

(पं०—) 'लोकसंज्ञे'ति=गतानुगतिकलक्षणा लोकहेरि. । 'लोकोत्तरयानमि'ति=लोकोत्तरप्रवृत्तिः । पुरुषमात्रप्रवृत्तिरपि हिताप्त्युपायः स्याद्, न वचनोक्तमेव पन्थाः, इत्याशङ्क्याह—'नचानुभवे'त्यादि । स्वयम-भिप्राय.—प्राक् स्वयमेव दृष्टफले कृष्यादौ तदुपायपूर्वकम्, आप्तोपदिष्टोपायपूर्वकं चादृष्टफले निधानखननादौ कर्मणि, प्रवृत्तस्य स्वाभिलषितफलसिद्धिरवश्यं भवति, नान्यथा । अतोऽतीन्द्रियफले चैत्यवन्दने फलं प्रति स्वानुभवाभावे पुरुषमात्रप्रवृत्त्याश्रयणान्न विवक्षितफलसिद्धिः, व्यभिचारसम्भवात् । अतः शास्त्रोपदेशात् तत्र प्रवर्तितव्यमिति ।

(ल०—) अपि च, लाघवापादनेन शिष्टप्रवृत्तिनिरोधतस्तद्विघात एव । अपवादोऽपि सूत्राबाधया गुरुलाघवालोचनपरोऽधिकदोषनिवृत्त्या शुभः शुभानुबन्धी महासत्त्वाऽऽसेवित उत्स-

र्गभेद एव; न तु सूत्रबाधया गुरुलाघवचिन्ताऽभावेनाहितमहितानुबन्ध्यसमंजसं परमगुरुला-घवकारि क्षुद्रसत्त्वविजृम्भितमिति ।

(पं०—) 'अपि च' इति दूषणान्तरसमुच्चये । यदृच्छाप्रवृत्त्या सम्यक्चैत्यवन्दनविधेः लाघवापादनेन=लघूकरणेन, शिष्टप्रवृत्तिनिरोधतः=पूज्यपूजारूपशिष्टाचारपरिहारात्, तद्विघात एव=उपायान्तरादपि सम्भवन्त्यास्तथेष्टफलसिद्धेर्विष्कम्भ एव । यथोक्तम्—'प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः' इति । आह—ननु गतानुगतिकरूपश्चैत्यवन्दनविधिरपवादस्तर्हि स्यादित्याशङ्कयाह 'अपवादोऽपी'त्यादि । उत्सर्गभेद एवेति=उक्तविशेषणोऽपवाद उत्सर्गस्थानापन्नत्वेनोत्सर्गफलहेतुरित्युत्सर्गविशेष एवेति ।

(ल०—) (जैनदर्शनवैशिष्ट्यम् :) एतदङ्गीकरणमप्यनात्मज्ञानां संसारसरित्स्रोतसि कुशकाशावलम्बनमिति परिभावनीयः सर्वथा निरूपणीयः प्रवचनगाम्भीर्यैः विलोकनीया तन्त्रान्तरस्थितिः; दर्शनीयं ततोऽस्याधिकत्वम्, अपेक्षितव्यो व्याप्तीतरविभागः; यतितव्यमुत्तमनिदर्शनेष्विति श्रेयोमार्गः ।

(पं०—)'एतदङ्गीकरणमपि' इति, एतस्य=क्षुद्रसत्त्वविजृम्भितस्य, अपवादतया 'अङ्गीकरणमपि'=आदरणमपि, किं पुनरनङ्गीकरणमवलम्बनं न भवतीति 'अपि'शब्दार्थः । 'कुशकाशावलम्बनमिति' कुशाश्च काशाश्च 'कुशकाशाः' तेषा'मवलम्बनं'=आश्रयणम् 'अनालम्बनमेव' अपुष्टालम्बनत्वादिति । 'दर्शनीयं ततोऽस्याधिकत्वमिति' 'दर्शनीयं'—दर्शयितव्यं 'परेषां स्वयं वा द्रष्टव्यं' ततः=तन्त्रान्तरस्थिते 'अस्य'=प्रकृततन्त्रस्य 'अधिकत्वं,=अधिकभाव, कषादिशुद्धजीवादितत्त्वाभिधायकत्वात् ।'व्याप्तीतरविभाग' इति, 'व्याप्तिश्च'=सर्वतन्त्रानुगमो, अस्य सर्वनयमतानुरोधित्वात् 'इतरा'=अव्याप्तिः, तन्त्रान्तराणामेकनयरूपत्वाद् 'व्याप्तीतरे' तयो' 'विभागो'=विशेषः । इह चेतराशब्दस्य पुंवद्भावो 'वृत्तिमात्रे सर्वादीनां पुंवद्भावः' इतिवचनात् । 'उत्तमनिदर्शनेषु'इति=आज्ञानुसारप्रवृत्तमहापुरुषदृष्टान्तेषु ।

(ल०—) व्यवस्थितश्चायं महापुरुषाणां क्षीणप्रायकर्मणां विशुद्धाशयानां भवाबहुमानिनामपुनर्बन्धकादीनामिति । अन्येषां पुनरिहानधिकार एव, शुद्धदेशनानर्हत्वात् । शुद्धदेशना हि क्षुद्रसत्त्वमृगयूथसंत्रासनसिंहनादः । ध्रुवस्तावदतो बुद्धिभेदः, तदनु सत्त्वलेशचलनं, कल्पितफलाभावापत्त्या दीनता, स्वभ्यस्तमहामोहवृद्धिः ततोऽधिकृतक्रियात्यागकारी संत्रासः । भवाभिनन्दिनां स्वानुभवसिद्धमप्यसिद्धमेतद्, अचिन्त्यमोहसामर्थ्यादिति । न खल्वेतानधिकृत्य विदुषा शास्त्रसद्भावः प्रतिपादनीयो दोषभावादिति । उक्तं च—अप्रशान्तमतौ शास्त्रसद्भावप्रतिपादनम् । दोषायाभिनवोदीर्णे, शमनीयमिव ज्वरे ॥ इति कृतं विस्तरेण । अधिकारिण एवाधिकृत्य पुरोदितान्, अपक्षपातत एव निरस्येतरान्, प्रस्तुतमभिधीयत इति ।

(पं०—) अस्तु नामायं प्रवचनगाम्भीर्यनिरूपणादिरुत्सर्गापवादस्वरूपपरिज्ञानहेतुः श्रेयोमार्गः, परं व्यवहारतक्षकचूडारत्नालङ्कारोपदेशवदशक्यानुष्ठानो भविष्यतीत्याशङ्कयाह 'व्यवस्थितश्च'इत्यादि । 'व्यव-

स्थितश्च'=प्रतिष्ठितश्च, स्वयमेव महापुरुषैरपुनर्बन्धकादिभिरनुष्ठितत्वात्। 'ध्रुवे'त्यादि–ध्रुवो=निश्चितः, 'तावत्' शब्दो वक्ष्यमाणानर्थक्रमार्थः, 'अतः'–शुद्धदेशनायाः, 'बुद्धिभेदो'=यथाकथञ्चित् क्रियमाणायामधिकृतक्रियायामनास्थया क्षुद्रसत्त्वतया च शुद्धकरणासामर्थ्यात् करणपरिणामविघटनम्। 'तदनु'=ततो बुद्धिभेदात् क्रमेण, 'सद्गन्लेशचलनं'=सुकृतोत्साहलवभ्रंशः, 'कल्पितफलाभावापत्त्या'=स्वबुद्धिसम्भावितस्य फलस्य, 'अयथास्थितकरणेऽपि न किञ्चिदि'ति देशनाकर्तुर्वचनाद् असत्त्वसम्भावनया, 'दीनता'=मूलत एव सुकृतकरणशक्तिक्षयः। 'स्वभ्यस्तमहामोहवृद्धिः' 'महामोहो'=मिथ्यात्वमोहस्ततः, 'स्वभ्यस्तस्य'=प्रतिभवाभ्यासान्महामोहस्य, 'वृद्धिः'=उपचय इति।

(ल० चैत्यवन्दनविधिः–) इह प्रणिपातदण्डकपूर्वकं चैत्यवन्दनम्, इति स एवादौ व्याख्यायते। तत्र चायं विधिः,–इह साधुः श्रावको वा चैत्यगृहादावेकान्तप्रयतः, परित्यक्तान्यकर्तव्यः प्रदीर्घतरतद्भावनासनेन, यथासम्भवं भुवनगुरोः सम्पादितपूजोपचारः, ततः सकलसत्त्वानपायिनीं भुवं निरीक्ष्य, परमगुरुप्रणीतेन विधिना प्रमृज्य च, क्षितिनिहितजानुकरतलः प्रवर्द्धमानातितीव्रतरशुभपरिणामो भक्त्यतिशयात् मुदश्रुपरिपूर्णलोचनो रोमाञ्चाञ्चितवपुः–'मिथ्यात्वजलनिलयानेककुग्राहनक्रचक्राकुले भवाब्धावनित्यत्वाच्चायुषोऽतिदुर्लभमिदं सकलकल्याणैककारणं च अधःकृतचिन्तामणिकल्पद्रुमोपमं भगवत्पादवन्दनं कथञ्चिदवाप्तम्, न चातः परं कृत्यमस्ती'त्यनेनात्मानं कृतार्थमभिमन्यमानो भुवनगुरौ विनिवेशितनयनमानसोऽतिचारभीरुतया सम्यगस्खलितादिगुणसम्पदुपेतं तदर्थानुस्मरणगर्भमेवं प्रणिपातदण्डकसूत्रं पठति,

तच्चेदम्,–नमोऽत्थु णं अरहंताणं–मित्यादि।

(१) नमोत्थु णं अरहंताणं–भगवंताणं, (२) आइगराणं–तित्थयराणं–सयंसंबुद्धाणं, (३) पुरिसुत्तमाणं–पुरिससीहाणं–पुरिसवरपुंडरीयाणं–पुरिसवरगंधहत्थीणं, (४) लोगुत्तमाणं–लोगनाहाणं–लोगहिआणं–लोगपईवाणं–लोगपज्जोअगराणं, (५) अभयदयाणं चक्खुदयाणं–मग्गदयाणं–सरणदयाणं बोहिदयाणं, (६) धम्मदयाणं–धम्मदेसयाणं–धम्मनायगाणं–धम्मसारहीणं–धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं, (७) अप्पडिहयवरनाणदंसणधराणं–वियट्टछउमाणं (८) जिणाणं–जावयाणं तिण्णाणं–तारयाणं बुद्धाणं–बोहयाणं मुत्ताणं–मोयगाणं, (९) सव्वन्नूणं–सव्वदरिसीणं–सिव–मयल–मरुअ–मणंत–मक्खय–मव्वाबाह–मपुणरावित्तिसिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपत्ताणं नमो जिणाणं जिअभयाणं।

इह च द्वात्रिंशदालापकाः, त्रयस्त्रिंशदित्यन्ये 'वियट्टच्छउमाण'मित्यनेन सह। (१) इह चाद्यालापकद्वयेन स्तोतव्यसम्पदुक्ता यतोऽर्हतामेव भगवतां स्तोतव्ये समग्रं निबन्धनम्। (२) तदन्यैस्तु त्रिभिः स्तोतव्यसम्पद एव प्रधाना साधारणाऽसाधारणरूपा हेतुसम्पत्, यत आदिकरणशीला एव तीर्थकरत्वेन स्वयंसम्बोधितश्चैते भवन्ति। (३) तदपरैस्तु चतुर्भिः स्तोत-

व्यसम्पद एवासाधारणरूपा हेतुसम्पत्, पुरुषोत्तमानामेव सिंह–पुण्डरीक–गंधहस्तिधर्म्मभाक्त्वेन तद्भावोपपत्तेः। (४) तदन्यैस्तु पञ्चभिः स्तोतव्यसम्पद एव सामान्येनोपयोगसम्पत्, लोकोत्तमत्व–लोकनाथत्व–लोकहितत्व–लोकप्रदीपत्व लोकप्रद्योतकरत्वानां परार्थत्वात्। (५) तदपरैस्तु पञ्चभिस्तस्या एवोपयोगसम्पदो हेतुसम्पत्, अभयदान–चक्षुर्दान–मार्गदान–शरणदान–बोधिदानैः परार्थसिद्धिः। (६) तदन्यैस्तु पञ्चभिः स्तोतव्यसम्पद एव विशेषेणोपयोगसम्पत्। धर्मदत्व–धर्मदेशकत्व–धर्म्मनायकत्व – धर्मसारथित्व–धर्म्मवरचतुरन्तचक्रवर्तित्वैर्न्यस्तद्विशेषोपयोगात्। (७) तदन्यद्वयेन तु स्तोतव्यसम्पद एव सकारणा स्वरूपसम्पत्। अप्रतिहतवरज्ञान-दर्शनधरा व्यावृत्तच्छद्मानाश्चार्हन्तो भगवन्त इतिहेतोः। (८) तदपरैश्चतुर्भिरात्मतुल्यपरफल-कर्तृत्वसम्पत्, जिनजापकत्व तीर्णतारकत्व–बुद्धबोधकत्व–मुक्तमोचकत्वानामेवंप्रकारत्वात्। (९) तदन्यैस्तु त्रिभिः प्रधानगुणापरिक्षय–प्रधानफलाप्ति–अभयसम्पदुक्ता, सर्वज्ञसर्वदर्शिनामेव शिव-अचलादिस्थानसम्प्राप्तौ जितभयत्वोपपत्तेः।

(पं–०) 'साधारणाऽसाधारणरूपे' ति=सर्वजीवै. साधारणमादिकरत्व, मोक्षापेक्षया 'आदौ–' भवे सर्वजीवानां जन्मादिकरणशीलत्वात्। तीर्थकरत्वस्वयसम्बोधौ असाधारणौ अर्हतामेव भवत। 'एते' इति अर्हन्तो भगवन्त·।

'प्रधानगुणापरिक्षय–प्रधानफलावाप्ति–अभयसम्पदुक्ते' ति, प्रधानगुणयो=सर्वज्ञत्व–सर्वदर्शित्वयो', 'अपरिक्षयेण'=अव्यावृत्त्या, 'प्रधानस्य'=शिवाचलादिस्थानस्य, 'अवाप्तौ'=लाभे, 'अभयसम्पत्' =जितभयत्वरूपा उक्तेति।

(ललित०–) इयं च चित्रा सम्पदनन्तधर्म्मात्मके वस्तुनि मुख्ये मुख्यवृत्त्या। स्तव–प्रवृत्तिश्चैवं प्रेक्षापूर्वकारिणामितिसंदर्शनार्थमेवमुपन्यासोऽस्य सूत्रस्य, स्तोतव्यनिमित्तोपलब्धौ तन्निमित्ताद्यन्वेषणयोगात्। इति प्रस्तावना।

(पं०–) ननु चैकस्वभावाधीनत्वाद वस्तुन' कथमनेकस्वभावाक्षेपिका स्तोतव्यसम्पदादिका चित्रा सम्पदेकत्र ? यदि परमुपचारवृत्त्या स्यादित्याशङ्क्याह 'इयं च चित्रा' इत्यादि। 'स्तोतव्यनिमित्तोपलब्धौ' इति, 'स्तोतव्या'=स्तवार्हा अर्हन्त, ते एव 'निमित्त'=कर्म्मकारकहेतु. स्तवक्रियाया, तस्य 'उपलब्धौ' –ज्ञाने। 'तन्निमित्ताद्यन्वेषणयोगाद्' इति, 'तस्य'–स्तोतव्यरूपस्य, 'निमित्तस्य'=अर्हल्लक्षणस्य निमित्त आदिकरत्वादि 'आदि' शब्दादुपयोगादिसंग्रह' तस्य, अन्वेषणघटनादिति।

☆

व्याख्या–६ लक्षण–७ अङ्ग

(ललित०) अथास्य व्याख्या। तल्लक्षणं च संहितादि, यथोक्तम्–

संहिता[१] च पदं[२] चैव, पदार्थः[३] पदविग्रहः[४]। चालना[५] प्रत्यवस्थानं[६], व्याख्या तन्त्रस्य षड्विधा ॥इति।

एतदङ्गानि तु जिज्ञासा, गुरुयोगो, विधि इत्यादीनि। अत्राप्युक्तम्–

जिज्ञासा[१] गुरुयोगो[२], विधिपरता[३] बोधपरिणतिः[४] स्थैर्यम्[५]।
उक्तक्रिया[६]ऽल्पभवता[७], व्याख्याङ्गानीति समयविदः ॥

(१) तत्र 'नमोऽस्त्वर्हद्भ्य' इति संहिता। (२) पदानि तु–'नमः','अस्तु,' 'अर्हद्भ्यः'। (३) पदार्थस्तु–'नमः'इति पूजार्थं, पूजा च द्रव्यभावसङ्कोचः। तत्र करशिरःपादादिसन्न्यासो द्रव्यसङ्कोचः, भावसङ्कोचस्तु विशुद्धस्य मनसो नियोग इति। 'अस्तु'इति भवतु; प्रार्थनार्थोऽस्येति। 'णं' इति वाक्यालङ्कारे; प्राकृतशैल्या इति चेहोपन्यस्तः। 'अर्हद्भ्यः' इति देवादिभ्योऽतिशयपूजामर्हन्तीति अर्हन्तस्तेभ्यो; नमःशब्दयोगाच्चतुर्थी। (४) पदविग्रहस्तु यानि समासभाञ्जि पदानि तेषामेव भवतीति नेहोच्यते।

(पं०) 'प्राकृतशैल्येति चेहोपन्यस्तः'=प्राकृतग्रन्थस्वाभाव्येन, इति=एवं वाक्यालङ्कारतया, 'चः' पुनरर्थो (प्र० र्थे), इह=सूत्रे, उपन्यस्तः, संस्कृते वाक्यालङ्कारतयाऽस्य प्रयोगादर्शनात्। प्राकृतशैल्येहोपन्यस्त इति पाठान्तरं, व्यक्तं च।

(ल०) (५) चालना तु अधिकृतानुपपत्तिचोदना। यथा, 'अस्तु' इति प्रार्थना न युज्यते तन्मात्रादिष्टासिद्धेः। (६) प्रत्यवस्थानं तु नीतितस्तन्निरासः, यथा युज्यते एव, इत्थमेवेष्टसिद्धेरिति। पदयोजनामात्रमेतद्, भावार्थं तु वक्ष्यामः।

व्याख्याङ्गानि तु जिज्ञासादीनि, तद्व्यतिरेकेण तदप्रवृत्तेः।

(१) जिज्ञासा–'तत्र धर्मं प्रति मूलभूता वन्दना; अथ कोऽस्यार्थः' इति ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा। न सम्यग्ज्ञानाद् ऋते सम्यक्क्रिया, 'पढमं नाणं तओ दया' इति वचनात्। विशिष्टक्षय–क्षयोपशमनिमित्तेयं नासम्यग्दृष्टेर्भवतीति तन्त्रविदः ॥

(ल०) २. तथा (गुरुयोगः) गुरुणा यथार्थाभिधानेन स्वपरतन्त्रविदा परहितनिरतेन पराशयवेदिना सम्यक्सम्बन्धः; एतद्विपर्ययाद्विपर्ययसिद्धेः, तद्व्याख्यानमपि अव्याख्यानमेव। अभक्ष्यास्पर्शनीयन्यायेनाऽनर्थफलमेतदितिपरिभावनीयमिति।

(पं०) 'एतद्विपर्ययेत्यादि,' ईदृग्गुणविपरीताद् गुरोः 'विपर्ययसिद्धेः'–अव्याख्यानसिद्धेः, एतद्भावनार्थमाह 'तद्व्याख्यानम्' .. इत्यादि, 'अभक्ष्यास्पर्शनीयन्यायेने'ति, गव्यमपि गोमांसादि

कुत्सितत्वादमेध्यं, तथा स्पर्शनीयमपि चाण्डालादि कस्यचित् कुत्सितत्वादस्पर्शनीय, त एव 'न्यायो'=दृष्टान्त, तेन ।

(ल०) ३. तथा विधिपरता=मण्डलिनिषद्याऽक्षादौ प्रयत्नः, ज्येष्ठानुक्रमपालनम्, उचितासनक्रिया, सर्वथा विक्षेपसंत्यागः, उपयोगप्रधानतेति श्रवणविधिः। हेतुरयं कल्याणपरम्परायाः। अतो हि नियमतः सम्यग्ज्ञानम्। न ह्युपाय उपेयव्यभिचारी, तद्भावानुपपत्तेरिति।

(प०) 'तद्भावानुपपत्तेरि'ति=उपेयव्यभिचारिण (प्र० चारेण) उपायस्य उपायत्वं नोपपद्यत इति भाव'।

(ल०) ४. तथा बोधपरिणतिः=सम्यग्ज्ञानस्थिरता, रहिता कुतर्कयोगेन, संहृतरत्नाधारावासिकल्पा, युक्ता मार्गानुसारितया, तन्त्रयुक्तिप्रधाना। स्तोकायामप्यस्यां न विपर्ययो भवति; अनाभोगमात्रं; साध्यव्याधिकल्पं तु तद्, वैद्यविशेषपरिज्ञानादिति।

(पं०) 'वैद्यविशेषपरिज्ञानादि' ति–वैद्यविशेष इव परिज्ञानं, तस्मात्। अयमत्र भावो,-यथा वैद्यविशेषात साध्यव्याधिर्निवर्तते, तथा परिज्ञानादनाभोगमात्रमिति। (प्रत्यन्तरे पाठ'–वैद्यविशेषस्य द्रव्यभावरूपस्य, परिज्ञान सुनिश्चततामतयाऽवगम', तस्मात्। अयमत्र भावो, यथा द्रव्यवैद्यपरिज्ञानादवस्य तदुक्तकरणेन साध्यव्याधिर्निवर्त्तते, तथा भाववैद्यपरिज्ञानादनाभोगमात्रमिति।)

(ल०) ५. तथा स्थैर्ये ज्ञानवृद्धयनुत्सेकः, तदज्ञानुपहसनं, विवादपरित्यागः, अज्ञबुद्धिभेदाकरणं, प्रज्ञापनीये नियोगः। सेयं पात्रता नाम बहुमता गुणज्ञानां विग्रहवती शमश्रीः, स्वाश्रयो भावसम्पदामिति।

(पं०) 'तदज्ञानुपहसनमि'ति–स्वयज्ञातज्ञेयानभिज्ञानुपहसनम्, 'विवादपरित्यागः' तदनभिज्ञै' सहेति गम्यते, 'अज्ञबुद्धिभेदाकरणमि'ति=सम्यक्चैत्यवन्दनाद्यजानतां तत्राऽप्रवृत्तिपरिणामाऽनापादनम्, 'प्रज्ञापनीये नियोग' इति=प्रज्ञापनीयमेव सम्यक्करणे नियुङ्क्त इति।

(ल०)--६. (तथा उक्तक्रिया) तथा उक्तस्य विज्ञातस्य तत्तत्कालयोगिनः तदासेवनसमये तथोपयोगपूर्वं शक्तितस्तथाक्रिया। नौषधज्ञानमात्रादारोग्यम्; क्रियोपयोग्येव तद्। न चेयं यादृच्छिकी शस्ता प्रत्यपायसम्भवादिति।

(पं०) 'उक्तस्य'=वचनाऽऽदिष्टस्य चैत्यवन्दनादे', तदेव विशिनष्टि 'विज्ञातस्य'=वचनानुसारेणैव विनिश्चितविषयविभागस्य, 'तत्तत्कालयोगिनः'=तेन तेन चित्ररूपेण कालेन तदवसरलक्षणेन सम्बन्धवत। इत्ययुक्तं विशेषणम्, (प्र विशेष्यम्) क्रियां विशेषयन्नाह 'तदासेवनसमये'=तस्योक्तस्य करणकाले, 'तथोपयोगपूर्वं'=आसेव्यमानानुरूप उपयोग 'पूर्वो'=हेतुर्यत्र तद्यथा भवति, 'शक्तित'–स्वशक्तिमपेक्ष्य, न तु तदतिक्रमेणापि, 'तथाक्रिया'=उक्तानुरूपप्रकारवान् व्यापार'। आह किमुक्तक्रियया ?

व्याख्याफलभूतादुक्तज्ञानादेवेष्टफलसिद्धिसम्भवादित्याशङ्क्याह 'न'=नैव, 'औषधज्ञानमात्रात्'=क्रियारहितादौषधज्ञानात् केवलाद्, 'आरोग्यं' = रोगाभावः । कुत इत्याह 'क्रियोपयोग्येव तत्' । यतः 'क्रियायां'=चिकित्सालक्षणायाम्, 'उपयुज्यते'=उपकुरुते, तच्छील च यत्तत्तथा, नाऽऽरोग्योपयोगवदपीति एवकारार्थः; 'तद्' इति = औषधज्ञानमात्रे, क्रियाया एवारोग्योपयोगात् । तर्हि क्रियैवोपादेया, न ज्ञानम् ? इत्याशङ्क्याह 'न चेय' मित्यादि । 'न च' = नैव, 'इयं' = वन्दनादिक्रिया, 'यादृशी तादृशी'=यथा तथा कृता, 'शस्ता'=इष्टसाधिका मता, किन्तु ज्ञानपूर्विकैव शस्ता भवतीति ।

(ल०) ७. तथा 'अल्पभवता' व्याख्याङ्गं, भवदीर्घतरसंसारिणस्तत्त्वज्ञानायोगात् । तत्र 'अल्प':—पुद्गलपरावर्त्तादारतो. 'भव':=संसारो, यस्य तद्भाव'अल्पभवता । न हि दीर्घदौर्गत्यभाक् चिन्तामणिरत्नावाप्तिहेतु । एवमेव नानेकपुद्गलपरावर्त्तभाजो व्याख्याङ्गमिति समयसारविदः । अतः साकल्यत एतेषां व्याख्यासिद्धिः, तस्याः सम्यग्ज्ञानहेतुत्वादिति सूक्ष्मधियाऽऽलोचनीयमेतत् ।

(पं०—) 'चिन्तामणिरत्नावाप्तिहेतु'रिति, चिन्तामणिरेव रत्नं मणिजातिप्रधानत्वाच्चिन्तामणिरत्नं, पृथग्वा चिन्तामणिरत्ने, तस्य तयोर्वावाप्तिहेतुः, अभाग्य इति कृत्वा ।

नमोऽत्थु णं अरहंताणं (नमः अस्तु अर्हद्भ्यः)

(ल०) तत्र 'नमोऽस्त्वर्हद्भ्यः' इत्यत्र 'अस्तु'=भवत्वित्यादौ प्रार्थनोपन्यासः, 'दुरापो भावनमस्कारः तत्त्वधर्म्मत्वात्, अत इत्थं वीजाधानसाध्य' इति ज्ञापनार्थम् । उक्तं च,

'विधिनोप्ताद्यथा वीजादङ्कुराद्युदयः क्रमात् । फलसिद्धिस्तथा धर्म्मवीजादपि विदुर्बुधाः ॥
वपनं धर्म्मवीजस्य सत्प्रशंसादि तद्गतम् । तच्चिन्ताद्यङ्कुरादि स्यात्फलसिद्धिस्तु निर्वृतिः॥
चिन्ता-सत्श्रुत्य-ऽनुष्ठानं-देवमानुपसम्पदः । क्रमेणाऽङ्कुर-सत्काण्ड नाल-पुष्पसमा मताः ॥
फलं प्रधानमेवाहुर्नानुषङ्गिकमित्यपि । पलालादिपरित्यागात् कृषौ धान्याप्तिवद् बुधाः ॥
अत एव च मन्यन्ते तत्त्वभावितबुद्धयः ॥ मोक्षमार्गक्रियामेकां पर्यन्तफलदायिनीम् ॥'
इत्यादि ।

(पं०—) नमो० । 'वपन' मित्यादिश्लोक', 'वपन' = निक्षेपणं, 'धर्म्मस्य' = श्रुतचारित्ररूपस्य, 'वीजं' = फलनिष्पत्तिहेतुः, धर्म्मवीज, तस्या'ऽऽत्मक्षेत्रे' इति गम्यम् । किं तदित्याह 'सत्प्रशसादि,' 'सत्' = सशुद्धं तच्चेत्थलक्षणं

'उपादेयधियाऽत्यंतं संज्ञाविष्कम्भणान्वितं । फलाभिसन्धिरहितं संशुद्धं ह्येतदीदृशम् ॥'

'प्रशंसादि' = वर्णवाद-कुशलचित्त-उचितकृत्यकरणलक्षणम्, 'तद्गतं' = धर्म्मगतम् । 'तच्चिन्तादि', तस्य=धर्म्मस्य, चिन्ता=अभिलाप', आदिशब्दात् सत्श्रुत्यादि वक्ष्यमाणम्, अंकुरादि=

अंकुर-सत्काण्डादि वक्ष्यमाणमेव । फलसिद्धिस्तु निर्वृतिरिति प्रतीतार्थम् । 'चिन्ता ...' इत्यादि श्लोको भावितार्थ एव । 'फलं ' इत्यादि श्लोक', फलं=साध्यं, किं तदित्याह 'प्रधानमेव' = ज्येष्ठमेव, फलमिति पुनः सम्बध्यते, तत प्रधानमेव फल फलमाहु । अवधारणफलमाह 'नानुषङ्गिकमित्यपि' =नोपसर्जनसवमपीति । दृष्टान्तमाह 'पलालादिपरित्यागात्'=पलालपुप्पे परित्यज्य, 'कृपौ'=कर्पणे, ('धान्यामिवद्'=) धान्यामिमिव, 'बुधाः'=सुधिय । 'अत एव'...इत्यादि, 'अत एव'=फलं प्रधानमेवेत्यादेरेवहेतो., ('च') 'चकारो'ऽयंप्रासमिदमुच्यत इति सूचनार्थ., 'मन्यन्ते'=प्रतिपद्यन्ते, 'तत्त्वभावितबुद्धयः'= परमार्थदर्शिविय , 'मोक्षमार्गक्रिया' = सम्यग्दर्शनाद्यवस्थां, 'एका' = अद्वितीयादिरूपा मोक्षमार्गत्वेन. 'पर्यन्तफलदायिनी'मित्यादि=मोक्षरूपचरमकार्यकारिणीं शैलेश्यवस्थामित्यर्थ , अन्यावस्थाभ्यो ह्यनन्तरमेव फलान्तरभावेन मोक्षाभावात् ।

(ल०—भावनमस्कारवतोऽपि प्रार्थना—) आह, यद्येवं न सामान्येनैवंपाठो युक्तः, भावनमस्कारवतस्तद्भावेन तत्साधनायोगात् । एवमपि पाठे मृषावादः 'असदभिधानं मृषा' इति-वचनात् । असदभिधानं च भावतः सिद्धे तत्प्रार्थनावचः, तदभावेन तद्भवनायोगादिति ।

(पं०)—'तत्साधनायोगादिति' ('तत्') तस्य=सिद्धस्य नमस्कारस्य, यत् 'साधनं'=निर्वर्त्तनं प्रार्थनया, तस्य 'अयोगात्'=अघटनात् । असदभिधानमिति, असतो=अयुज्यमानस्य, 'अभिधानं'= भणनमिति । 'तदभावेने'त्यादि 'तदभावेन'=भावनमस्कारभावेन, 'तद्भवनायोगात्'—आशसनीयभावनमस्कारभवनायोगात् । अनागतस्येष्टार्थस्य लाभेनाविष्करणमाशीः, सा च प्रार्थनेति ।

(ल०)—उच्यते, यत्किञ्चिदेतत्, तत्तत्त्वापरिज्ञानात् । भावनमस्कारस्यापि उत्कर्षादि-भेदोऽस्त्येवेति तत्त्वम् । एव च भावनमस्कारवतोऽपि तथा तथा उत्कर्षादिभावेनास्य तत्साधना-ऽयोगोऽसिद्धः, तदुत्कर्षस्य साध्यत्वेन तत्साधनोपपत्तेरिति । एवं च, 'एवमपि पाठे मृषावादः' इत्याद्यपार्थकमेव, 'असिद्धे तत्प्रार्थनावच' इति न्यायोपपत्तेः ।

(पं०)—'भावनमस्कारस्यापी'ति किं पुनर्नामादिनमस्कारस्य इति 'अपि' शब्दार्थ । 'तत्साधनोपपत्ते'रिति, 'तस्य'=उत्कर्षानन्यरूपस्य नमस्कारस्य प्रार्थनया साधनस्य, 'उपपत्तेः'=घटनात् ।

(ल०—पूजाचतुष्टयम्: —) तत्प्रकर्षवांस्तु वीतरागो नैवैवं पठतीति । न चान्यस्तत्प्र-कर्षवान्, भावपूजायाः प्रधानत्वात्, तस्याश्च प्रतिपत्तिरूपत्वात् । उक्तं चान्यैरपि—'पुष्पाऽऽमिष-स्तोत्र-प्रतिपत्तिपूजानां यथोत्तरं प्राधान्यम्' । प्रतिपत्तिश्च वीतरागे, पूजार्थं च नम इति । पूजा च द्रव्यभावसंकोच इत्युक्तम् । अतः स्थितमेतदनवद्यं 'नमोऽस्त्वर्हद्भ्य' इति ।

(पं०)—'नैवैवं पठती'ति, एवमिति प्रार्थनम्, 'नमस्तीर्थाये'ति निराशंसमेव तेन पठनात् । 'पुष्पामिषस्तोत्रप्रतिपत्तिपूजानामि'त्यादि, तत्र 'आमिष'शब्देन मांस-भोज्यवस्तुरुचिरवर्णादिलाभ-संचयलाभ-रुचिररूपादि-शब्द-नृत्यादिकामगुण-भोजनादयोऽर्था. यथासम्भवं प्रकृतमात्रे योज्या । देशविरतौ

चतुर्विधाऽपि, सरागसर्वविरतौ तु स्तोत्रप्रतिपत्ती द्वे पूजे समुचिते। भवतु नामैवं यथोत्तरं पूजानां प्राधान्यं तथापि वीतरागे का सम्भवतीत्याह 'प्रतिपत्तिश्च वीतरागे' इति; 'प्रतिपत्तिः'=अविकलाप्तोपदेशपालना, 'चः' समुच्चये, 'वीतरागे'=उपशान्तमोहादौ पूजाकारके। यदि नामैवं पूजाक्रमो, वीतरागे च तत्सम्भवः, तथापि नमस्कारविचारे तदुपन्यासोऽयुक्त, इत्याह 'पूजार्थं चे'त्यादि। प्रतिपत्तिरपि द्रव्यभावसंकोच एवेतिभावः।

(ल०)–इह च प्राकृतशैल्या चतुर्थ्यर्थे षष्ठी, उक्तं च–'बहुवयणेण दुवयणं, छट्ठिविभत्तीए भण्णइ चउत्थी। जह हत्था तह पाया, णमोऽत्थु देवाहिदेवाणं॥' बहुवचनं तु अद्वैतव्यवच्छेदेनार्हद्बहुत्वख्यापनार्थं, विषयबहुत्वेन नमस्कर्तुः फलातिशयज्ञापनार्थं च,–इत्येतच्चरमालापके 'नमो जिणाणं जियभयाणं'मित्यत्र सप्रतिपक्षं भावार्थमधिकृत्य दर्शयिष्यामः।

(पं०)–'अद्वैतव्यवच्छेदेने'ति,–द्वौ प्रकारावित द्वीतं, तस्य भावो द्वैतं. तद्विपर्ययेण 'अद्वैतं'=एकप्रकारत्वम्। तदाहुरेके–"एक एव हि भूतात्मा देहे देहे प्रतिष्ठित. (प्र० 'व्यवस्थित.')। एकधा बहुधा चापि (प्र० . 'चैव') दृश्यते जलचन्द्रवत्॥" ज्ञानशब्दाद्यद्वैतबहुत्वेऽप्यात्माद्वैतमेवेह व्यवच्छेद्यम्, अर्हद्बहुत्वेन तस्यैव व्यवच्छेद्यत्वोपपत्ते.। 'फलातिशयज्ञापनार्थं चे'ति, 'फलातिशयो'=भावनोत्कर्ष इति।

(प्रार्थनावच इच्छायोगज्ञापकम्:–)

(ल०) अन्ये त्वाहुः 'नमोऽस्त्वर्हद्भ्य' इत्यनेन प्रार्थनावचसा तत्त्वतो लोकोत्तरयानवतां तत्साधनं प्रथममिच्छायोगमाह, ततः शास्त्रसामर्थ्ययोगभावात्, सामर्थ्ययोगश्चानन्तर्येण महाफलहेतुरिति योगाचार्याः।

इच्छायोगादित्रयम्।

(ल०) अथ क एते इच्छायोगादयः? उच्यते, अमी खलु न्यायतन्त्रसिद्धा इच्छादिभिधानाः क्रियया विकलाविकलाधिकास्तत्त्वधर्मव्यापाराः। उक्तं च,

(इच्छायोगः) "कर्तुमिच्छोः श्रुतार्थस्य ज्ञानिनोऽपि प्रमादतः।
विकलो धर्मयोगो यः स इच्छायोग उच्यते॥ १॥

(पं०) 'न्यायतन्त्रसिद्धाः' इति, 'न्यायो'=युक्ति., स एव 'तन्त्रम्'=आगम', तेन 'सिद्धा'=प्रतिष्ठिता', सूत्रत' समये क्वचिदपि तदश्रवणात्, वक्ष्यति च 'आगमश्चोपपत्तिश्चे'त्यादि।

कर्तुमित्यादिश्लोकनवकम्। अथास्य व्याख्या,—कर्तुमिच्छोः कस्यचिन्निर्व्याजमेव तथाविधकर्मक्षयोपशमभावेन। अयमेव विशिष्यते 'श्रुतार्थस्य'=श्रुतागमस्य, 'अर्थ'शब्द आगमवचन', अर्थते (पाठान्तरे 'अर्थ्यते')ऽनेन तत्त्वमिति कृत्वा। अयमपि कदाचिदज्ञान्येव भवति क्षयोपशमवैचित्र्यात्, अत आह 'ज्ञानिनोऽपि'–अवगतानुष्ठेयतत्त्वस्यापि इति। एवम्भूतस्यापि सत' किम्? इत्याह 'प्रमादतः'=

प्रमादेन विकथादिना, 'विकलः' = असंपूर्णः कालादिवैकल्यमाश्रित्य, 'धर्मयोगः' = धर्मव्यापारो, 'यः' इति=वन्दनादिविषयः, 'स इच्छायोग उच्यते' इच्छाप्रधानत्वं चास्य तथाकालादावकरणादिति (प्रत्यन्तरे—तथाकालादावनवधारणादिति)।

(शास्त्रयोग) (मू०)– शास्त्रयोगस्त्विह ज्ञेयो यथाशक्त्यप्रमादिनः।
श्राद्धस्य तीव्रबोधेन वचसाऽविकलस्तथा ॥

(वृ०) शास्त्रयोगस्वरूपाभिधित्सयाह 'शास्त्रयोगस्तु' इति। शास्त्रप्रधानो योग शास्त्रयोगः. प्रक्रमादेतद्विषयव्यापार एव स ['तु'=]पुन, 'इह'=योगतन्त्रे ज्ञेय। कस्य कीदृशीत्याह 'यथाशक्ति'= शक्त्यनुरूपम्. 'अप्रमादिनो'=विकथादिप्रमादरहितस्य। अयमेव विशिष्यते 'श्राद्धस्य'=तथाविधमोहापगमात स्वसंप्रत्ययात्मिकादिश्रद्धावत, 'तीव्रबोधेन' हेतुभूतेन, 'वचसा'=आगमेन, 'अविकलः'=अखण्डः 'तथा'= कालादिवैकल्याबाधया। न ह्यपटवोऽतिचारदोषजा, इति कालादिवैकल्येनाबाधायां तीव्रबोधो हेतुतयो-पन्यस्त ॥ २ ॥

(सामर्थ्ययोग) (मू०)—शास्त्रसंदर्शितोपायस्तदतिक्रान्तगोचरः।
शक्त्युद्रेकाद् विशेषेण सामर्थ्याख्योऽयमुत्तमः ॥ ३ ॥

(वृ०) अथ सामर्थ्ययोगलक्षणमाह 'शास्त्रसंदर्शितोपायः'=सामान्येन शास्त्राभिहितोपाय, सामान्येन शास्त्रे तदभिधानात, 'तदतिक्रान्तगोचरः'—शास्त्रातिक्रान्तविषय. कुत इत्याह 'शक्त्युद्रेकात्'= शक्तिप्राबल्यात्, 'विशेषेण' = न सामान्येन शास्त्रातिक्रान्तगोचर., सामान्येन फलपर्यवसानत्वाच्छास्त्रस्य. 'सामर्थ्याख्योऽयं'=सामर्थ्ययोगाभिधानोऽयं योग, 'उत्तमः'=सर्वप्रधानो, अक्षेपेण प्रधानफलकारणत्वा-दिति ॥ ३ ॥

(शास्त्रादेव सर्वमोक्षोपायज्ञाने आपत्तिः—)

(मू०)–सिद्ध्याख्यपदसंप्राप्तिहेतुभेदा न तत्त्वतः। शास्त्रादेवावगम्यन्ते सर्वथैवेह योगिभिः ॥४॥
सर्वथा तत्परिच्छेदात्साक्षात्कारित्वयोगतः। तत्सर्वज्ञत्वसंसिद्धिस्तदा सिद्धिपदाप्तितः॥५॥

(वृ०)—एतत्समर्थनायैवाह 'सिद्ध्याख्यपदसंप्राप्तिहेतुभेदा' इति=मोक्षाभिधानपदसंप्राप्ति-कारणविशेषा सम्यग्दर्शनादय, किमित्याह 'न तत्त्वतो' = न परमार्थेन, 'शास्त्रादेव' = आगमादेव अवगम्यन्ते। न चैवमपि शास्त्रवैयर्थ्यमित्याह 'सर्वथैवेह योगिभिः'=सर्वैरेव प्रकारैः, 'इह'—लोके, साधुभि; अनन्तभेदत्वात् तेषामिति ॥ ४ ॥ सर्वथा तत्परिच्छेदे शास्त्रादेवाभ्युपगम्यमाने दोषमाह 'सर्वथा'= सर्वैः प्रकारैः, अशेषफलसाधकत्वादिभि 'तत्परिच्छेदात्'—शास्त्रादेव सिद्ध्याख्यपदसंप्राप्तिहेतुभेदपरिच्छे-दात्, किमित्याह 'साक्षात्कारित्वयोगतः' केवलेनेव साक्षात्कारित्वयोगात् कारणात्, 'तत्सर्वज्ञत्वसंसिद्धेः' =श्रोतृयोगिसर्वज्ञत्वसंसिद्धे, अधिकृतहेतुभेदानामन्येन सर्वथा परिच्छेदायोगात्। ततश्च 'तदा'=श्रवणकाले

एव, 'सिद्धिपदाप्तितः'=मुक्तिपदाप्तेः, अयोगिकेवलित्वस्यापि शास्त्रादेवायोगिकेवलित्वसावमवनेनावगति-प्रसङ्गाद्, अविषयेऽपि शास्त्रसामर्थ्याभ्युपगमे इत्थमपि शास्त्रसामर्थ्यप्रसङ्गात् ॥ ५ ॥

(ल०) न चैतदेवं यत्, तस्मात् प्रातिभज्ञानसंगतः ।
सामर्थ्ययोगोऽवाच्योऽस्ति सर्वज्ञत्वादिसाधनम् ॥ ६ ॥

(पं०) स्यादेतत्—अस्त्वेवमपि का नो बाधेत्यत्राऽऽह 'न चैतदेवं' (न च'एतद्'=) अनन्तरोदितम् (एवं), शास्त्रादयोगिकेवलित्वावगमेऽपि सिद्ध्यसिद्धेः । ('यत्'=) यस्मादेवं, 'प्रातिभज्ञानसंगतो' =मार्गानुसारिप्रकृष्टोहज्ञानयुक्तः, किमित्याह 'सामर्थ्ययोगः'=सामर्थ्यप्रधानो योग. सामर्थ्ययोग, प्रक्रमाद्धर्मव्यापार एव क्षपकश्रेणिगतो गृह्यते । अयमवाच्योऽस्ति तद्योगिस्वसंवेदनसिद्धः, 'सर्वज्ञत्वादिसाधनं' अक्षेपेणातः सर्वज्ञत्व[आदि]सिद्धेः ॥ ६ ॥

(ल० द्विविधःसामर्थ्य-योगः) द्विधाऽयं धर्मसंन्यास—योगसंन्याससंज्ञितः ।
क्षायोपशमिका धर्माः, योगाः कायादिकर्म तु ॥ ७ ॥

(पं०) सामर्थ्ययोगभेदाभिधानायाऽऽह 'द्विधा'=द्विप्रकारो, 'अयं'=सामर्थ्ययोग, कथमित्याह 'धर्मसंन्यासयोगसंन्यास—संज्ञितः',—'संन्यासो'=निवृत्तिरुपरम इत्येकोऽर्थः । ततो धर्मसंन्याससंज्ञा सञ्जातास्येति धर्मसंन्याससंज्ञित 'तारकादिभ्य इतच्' (पा० ५—२—३६) । एवं योगसंन्याससंज्ञा सञ्जातास्येति योगसंन्याससंज्ञित । क एते धर्म्माः ? के वा योगाः ? इत्याह 'क्षायोपशमिका धर्म्माः' =क्षयोपशमनिवृत्ता क्षान्त्यादयो । 'योगाः कायादि कर्म तु'=योगा पुन कायादिव्यापाराः कायोत्सर्गकरणादयः । एवमेव द्विधा सामर्थ्ययोग इति ॥ ७ ॥

(ल० द्विविधसामर्थ्ययोगकाल) द्वितीयापूर्वकरणे, प्रथमस्तात्त्विको भवेत् ।
आयोज्यकरणादूर्ध्वं, द्वितीय इति तद्विदः ॥ ८ ॥

(पं०) यो यदा भवति तं तदाऽभिधातुमाह 'द्वितीयापूर्वकरण' इति । ग्रन्थिभेदनिबन्धनप्रथमापूर्वकरणव्यवच्छेदार्थं 'द्वितीय'ग्रहणं, प्रथमेऽधिकृतसामर्थ्ययोगासिद्धेः । 'अपूर्वकरण' त्वपूर्वपरिणामः शुभोऽनादावपि भवे तेषु तेषु धर्म्मस्थानेषु वर्तमानस्य तथाऽभजातपूर्वो ग्रन्थिभेदादिफल उच्यते ।

तत्र प्रथमे अस्मिन् ग्रन्थिभेदः फलम्;अयं च सम्यग्दर्शनफल ,सम्यग्दर्शनं च प्रशमादिलिङ्ग आत्मपरिणामः यथोक्तम्-'प्रशम[1]संवेग[2]निर्वेदा[3]ऽनुकम्पा[4]ऽस्तिक्या[5]भिव्यक्तिलक्षणं तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' इति । (तत्त्वार्थभाष्यम् अ० १ सू० २) यथाप्राधान्य(प्र० . .प्रधान)मयमुपन्यासो, लाभस्तु पश्चानुपूर्व्येति समयविदः ।

द्वितीये त्वस्मिंस्तथाविधकर्म्मस्थितेस्तथाविधसङ्ख्येयसागरोपमातिक्रमभाविनि, किम् ? इत्याह 'प्रथमस्तात्त्विको भवेद्'इति । 'प्रथमो'=धर्म्मसंन्याससंज्ञित. सामर्थ्ययोग', 'तात्त्विक'=पारमार्थिको भवेत्, क्षपकश्रेणियोगिनः क्षायोपशमिकक्षान्त्यादिधर्म्मनिवृत्तेः, अतोऽयमित्थमुपन्यास इति । अतात्त्विकस्तु प्रव्रज्या-

कालेऽपि भवति सावद्यप्रवृत्तिलक्षणधर्मसंन्यासयोग, प्रव्रज्याया ज्ञानयोगप्रतिपत्तिरूपत्वात् । (प्रत्यन्तरे 'प्रव्रज्याया ज्ञानप्रवृत्तिरूपत्वात्' पाठ) 'आयोज्यकरणादूर्ध्वम्' इति केवलाभोगेनाचिन्त्यवीर्यतया 'आयोज्य'—ज्ञात्वा तथा तथा तत्तत्कालक्षपणीयत्वेन भवोपग्राहिकर्म्मणस्तथाऽवस्थानभावेन 'करणं'—क्रियाः, आयोज्यकरणं; शैलेश्यवस्थाफलमेतत् । अत एवाह 'द्वितीय इति तद्विद' योगसंन्याससंज्ञितः सामर्थ्ययोग इति तद्विदोऽभिदधति शैलेश्यवस्थायामस्य भावात् । तत आयोज्यकरणादूर्ध्वं तु द्वितीयः शैलेश्यवस्थाफलमेतद् अत एवाह 'द्वितीय इति तद्विद'=योगसंन्याससंज्ञित सामर्थ्ययोग इति तद्विदोऽभिदधति ॥ ८ ॥

(ल०) अतस्त्वयोगो योगानां, योगः पर उदाहृत ।
मोक्षयोजनभावेन, सर्वसंन्यासलक्षण इत्यादि ॥ ९ ॥

(पं०—) (योगदृष्टिसमुच्चय ३—११) 'अतस्त्वे'त्यादि, अत एव=शैलेश्यवस्थायां योगसंन्यासात् कारणात्, 'अयोगो'=योगाभावो. 'योगानां'=मैत्र्यादीनां, 'मध्ये'इति गम्यते, योग 'परः'=प्रधान उदाहृतः । कथमित्याह 'मोक्षयोजनभावेन' हेतुना, योजनाद् योग इतिकृत्वा । स्वरूपमस्याह 'सर्वसंन्यासलक्षणो,' अधर्म्मधर्मसंन्यासयोरत्रपरिशुद्धिभावात् । 'इत्यादि' शब्दाद्

'एतत्त्रयमनाश्रित्य विशेषेणैतदुद्भवाः । योगदृष्टयः उच्यन्ते, अष्टौ सामान्यतस्तु ताः ॥ १ ॥
मित्रा—तारा—बला दीप्रा—स्थिरा—कान्ता—प्रभा—परा नामानि योगदृष्टीनां,लक्षणं च निबोधत ॥२॥

(ल०—) तदत्र 'नमोऽर्हद्भ्यः' इत्यनेनेच्छायोगाभिधानं, 'नमो जिनेभ्यो जितभयेभ्य' इत्यनेन तु वक्ष्यमाणेन शास्त्रयोगस्य, निर्विशेषेण सम्पूर्णनमोमात्राभिधानात् । विशेषप्रयोजनं चास्य स्वस्थान एव वक्ष्याम इति । तथा, 'इक्कोऽवि नमुक्कारो जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स । संसारसागराओ, तारेइ नरं व नारिं वा ॥१॥' इत्यनेन तु पर्यन्तवर्तिना सामर्थ्ययोगस्य, कारणे कार्योपचारात्, न संसारतरणं सामर्थ्ययोगमन्तरेणेतिकृत्वा ।

आह—'अयं प्रातिभज्ञानसङ्गत'इत्युक्त, तत्किमिदं प्रातिभं नाम ? असदेतत् मत्यादिपञ्चकातिरेकेणास्याश्रवणात् । उच्यते—चतुर्ज्ञानप्रकर्षोत्तरकालभावि केवलज्ञानादध तदुदये सवित्रालोककल्पमिति न मत्यादिपञ्चकातिरेकेणास्य श्रवणम्, अस्ति चैतद्; अधिकृतावस्थोपपत्तेरिति, एतद्विशेष एव प्रातिभमिति कृतं विस्तरेण । १ ।

भगवंताणं (भगवद्भ्यः)

(ल०—) एते चार्हन्तो नामाद्यनेकभेदाः, 'नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यास' इति तत्त्वार्थे अ १ सू. ५ वचनात । तत्र भावोपकारकत्वेन भावार्हत्सम्परिग्रहार्थमाह—'भगवद्भ्यः' इति तत्र 'भगः' समग्रैश्वर्यादिलक्षणः । उक्तं च—

१ 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य २रूपस्य ३यशसः ४श्रियः। ५धर्मस्याथ ६प्रयत्नस्य षण्णां भग इतीङ्गना ॥१॥

(१) समग्रं चैश्वर्यं—भक्तिनम्रतया त्रिदशपतिभिः शुभानुबन्धिमहाप्रातिहार्यकरणलक्षणम्। (२) रूपं पुनः—सकलसुरस्वप्रभावविनिर्मिताङ्गुष्ठरूपाङ्गारनिदर्शनातिशयसंसिद्धम्। (३) यशस्तु रागद्वेषपरीषहोपसर्गपराक्रमसमुत्थं त्रैलोक्यानन्दकार्याकालप्रतिष्ठम्। (४) श्रीः पुनः—घातिकर्मोच्छेद(प्र०...च्छेदन)विक्रमावाप्तकेवलालोकनिरतिशयसुखसम्पत्समन्वितता परा। (५) धर्म्मस्तु—सम्यग्दर्शनादिरूपो दानशीलतपोभावनामयः साश्रवानाश्रवो महायोगात्मकः। (६) प्रयत्नः पुनः—परमवीर्यसमुत्थ एकरात्रिक्यादिमहाप्रतिमाभावहेतुः समुद्घातशैलेश्यवस्थाव्यङ्ग्यः समग्र इति।

अयमेवंभूतो भगो विद्यते येषां ते भगवन्तः। तेभ्यो भगवद्भ्यो नमोऽस्त्विति ॥२॥ एवं सर्वत्र क्रिया योजनीया। तदेवंभूता एव प्रेक्षावतां स्तोतव्या इति स्तोतव्यसम्पत्–१।

३. आइगराणं (आदिकरेभ्यः)

(ल०—सांख्यमतनिरासौ—) एतेऽपि भगवन्तः प्रत्यात्मप्रधानवादिभिर्मौलिकसांख्यैः सर्वथाऽकर्त्तारोऽभ्युपगम्यन्ते, 'अकर्त्ताऽऽत्मे'ति वचनात्। तद्व्यपोहेन कथंचित् कर्तृत्वाभिधित्सयाह 'आदिकरेभ्यः' इति। इहादौ करणशीला 'आदिकराः', अनादावपि भवे तदा तदा तत्तत्कर्माण्वादिसम्बन्धयोग्यतया विश्वस्यात्मादिगामिनो जन्मादिप्रपञ्चस्येति हृदयम्।

(पं०—) 'प्रत्यात्मप्रधानवादिभिरि'ति, सत्त्वरजस्तमसां 'साम्यावस्था प्रकृतिः', सैव प्रधानं, ततः आत्मानमात्मानं प्रति प्रधानं वदितुं शीलं येषां ते प्रत्यात्मप्रधानवादिनः, तैः। उत्तरे हि साङ्ख्या 'एकं नित्यं सर्वात्मसु प्रधानमि'ति प्रतिपन्नाः, तद्व्यवच्छेदार्थं 'मौलिकसाङ्ख्यैरि'त्युक्तं, तद्ग्रहणमपि च प्रत्यात्मकर्म्मभेदवादिनां जैनानां कर्तृत्वमात्रविषयैव तैः सह विप्रतिपत्तिरित्यभिप्रायात् कृतम्। 'अने'त्यादि, 'अनादावपि' प्रवाहापेक्षया, किं पुनः प्रतिनियतव्यक्त्यपेक्षया आदिमतीति 'अपि' शब्दार्थः। 'भवे'=संसारे, 'तदा-तदा'—तत्र तत्र काले, 'तत्तत्कर्म्माण्वादिसम्बन्धयोग्यतया', 'तत्तत्'=चित्ररूप कर्माणवो—ज्ञानावरणादिकर्म्मपरिणामार्हा पुद्गलाः; 'आदि'—शब्दात् तेषामेव बन्धोदयोदीरणादिहेतवो द्रव्यक्षेत्रकालभावा गृह्यन्ते तेन संबन्धः=परस्परानुवृत्ति(प्र०..०त्त)चेष्टारूपः संयोगः, तस्य योग्यता=तं प्रति प्रह्वता, तथा, विश्वस्य=समग्रस्य, एवंविधयोग्यतैवात्मनः कर्तृत्वशक्तिरिति, 'आत्मादिगामिनः'=आत्मपरतदुभयगतस्य, 'जन्मादिप्रपञ्चस्य' प्रतीतस्य, 'इति हृदयमि'ति=एष सूत्रगर्भः।

(ल०—आत्मनि योग्यताभावे आपत्तिः—) अन्यथाधिकृतप्रपञ्चासम्भवः, प्रस्तुतयोग्यतावैकल्ये प्रकान्तसम्बन्धासिद्धेः, अतिप्रसङ्गदोषव्याघातात्, मुक्तानामपि जन्मादिप्रपञ्चापत्तेः, प्रस्तुतयोग्यताऽभावेपि प्रक्रान्तसम्बन्धाविरोधादिति परिभावनीयमेतत्।

(पं०–)विपक्षे बाधकमाह 'अन्यथा'=अकर्तृत्वे, अधिकृतप्रपञ्चासम्भवो=विश्वस्यात्मादिगामिनो जन्मादिप्रपञ्चस्यानुपपत्तिः। कुत इत्याह 'प्रस्तुतयोग्यतावैकल्ये', 'प्रस्तुतायाः'=अनादावपि भवे तदा तदा तत्तत्कर्म्माण्वादिसंबन्धनिमित्ताया योग्यतायाः, कर्तृत्वलक्षणायाः, 'वैकल्ये' अभावे, 'प्रक्रान्तसंबन्धासिद्धेः', प्रक्रान्तः=प्रतिविशिष्टैः कर्म्माण्वादिभिः, 'सम्बन्धस्य'=उक्तरूपस्य असिद्धेः=अनिष्पत्तेः, एतदपि कुत इत्याह 'अतिप्रसङ्गदोषव्याघातात्', एवमभ्युपगमे यो'ऽतिप्रसङ्गः'=अतिव्याप्तिः, स एव 'दोषः' अनिष्टत्वात्, तेन 'व्याघातो'=निवारणं प्रकृतयोग्यतावैकल्ये प्रस्तुतसंबन्धस्य, तस्मात्। अतिप्रसङ्गमेव भावयति 'मुक्तानामपि'=निर्वृतानामपि, आस्तामन्येषां, 'जन्मादिप्रपञ्चापत्तेः'=जन्मादिप्रपञ्चस्यानिष्टस्य प्राप्तेः, कुत इत्याह 'प्रस्तुतयोग्यताऽभावेऽपि'=प्रस्तुतयोग्यतामन्तरेणापि, 'प्रक्रान्तसम्बन्धाविरोधात्=तत्तत्कर्माण्वादिभिः सम्बन्धस्यादोषात्, आत्माकर्तृत्ववादिनाम्, इत्यवेमन्वयव्यतिरेकाभ्यां भावनीयमेतत्।

(ल०–उभयोः स्वभावविरहे न्यायानुपपत्तिः) न च तत्तत्कर्माण्वादेरेव तत्स्वभावतयाऽऽत्मनस्तथासम्बन्धसिद्धिः, द्विष्ठत्वेन अस्योभयोस्तथास्वभावापेक्षित्वात्, अन्यथा कल्पनाविरोधात्, न्यायानुपपत्तेः, न हि कर्माण्वादेस्तथाकल्पनायामप्यलोकाकाशेन सम्बन्धः, तस्य तत्सम्बन्धस्वभावत्वायोगात्, अतत्स्वभावे चालोकाकाशे विरुध्यते कर्माण्वादेस्तत्स्वभावताकल्पनेतिन्यायानुपपत्तिः, तत्स्वभावताङ्गीकरणे चास्यास्मदभ्युपगतापत्तिः।

(पं०–) अथ पराशङ्कां परिहरन्नाह "न च"=नैव तत् यदुत तत्तत्कर्म्माण्वादेरेवोक्तरूपस्य, 'तत्स्वभावतया'=स आत्मना सह सम्बन्धयोग्यतालक्षणः स्वभावो यस्य तत्तथा तद्भावस्तत्ता तया, 'आत्मनो'=जीवस्य, 'तथा'=सम्बन्धयोग्यतायामिवास्मदभ्युपगतायां, 'सम्बन्धसिद्धिः'=कर्म्माण्वादिनेति, कुत इत्याह 'द्विष्ठत्वेन=' द्व्याश्रयत्वेन;'अस्य'=सम्बन्धस्य, 'उभयोः'–आत्मन कर्म्माण्वादेश्च; 'तथास्वभावापेक्षित्वात्'=संबन्धयोग्यस्वरूपापेक्षित्वात्। विपक्षे बाधकमाह, 'अन्यथा'=आत्मन. सम्बन्धयोग्यस्वभावाभावे 'कल्पनाविरोधात्'–कर्म्माण्वादेरेव स्वसम्बन्धयोग्यस्वभावेन आत्मना सम्बन्धसिद्धिरितिकल्पनाया व्याघातात्, कुत इत्याह, 'न्यायानुपपत्तेः' 'न्यायस्य'=शास्त्रसिद्धदृष्टान्तस्यानुपपत्तेः, न च तथासम्बन्धसिद्धिरिति योज्य, न्यायानुपपत्तिमेव भावयन्नाह–'न'=नैव, 'हिः'=यस्मात्, 'कर्माण्वादेः'=उक्तरूपस्य, 'तथाकल्पनायामपि'=अलोकाकाशसम्बन्धयोग्यस्वभावकल्पनायामपि, किं पुनस्तदभाव इत्यपिशब्दार्थ, किमित्याह 'अलोकाकाशेन'=प्रतीतेन, 'सम्बन्धः'=अवगाह्यावगाहकलक्षण', कुत एवं इत्याह 'तस्य तत्सम्बन्धस्वभावत्वायोगात्'='तस्य' अलोकाकाशस्य, 'तेन'–कर्म्माण्वादिना सम्बन्धस्वभावत्वं तस्यायोगात्। भवतु नामैवं, तथापि कथं प्रकृतकल्पनाविरोध इत्याह 'अतत्स्वभावे च'=कर्माण्वादिना सम्बन्धायोग्यस्वभावे च, अलोकाकाशे 'विरुध्यते'=असम्बन्धद्वारायाततया अतत्स्वभावताकल्पनया निराक्रियते कर्माण्वादेस्तत्स्वभावताकल्पना 'इति=' एव, 'न्यायानुपपत्तिः' = न्यायस्योक्तलक्षणस्यानुपपत्ति., प्रयोगश्च यो येन स्वयमसम्बन्धयोग्यस्वभावो भवति, स तेन कल्पितसम्बन्धयोग्यस्वभावेनापि न सम्बध्यते, यथाऽलोकाकाशं कर्माण्वादिना, तथा चात्मा कर्म्माण्वादि-

नैवेति व्यापकानुपलब्धिः, एवं तर्हि तत्स्वभावोऽप्ययमङ्गीकरिष्यते इत्याह 'तत्स्वभावताङ्गीकरणे च'= कर्म्माण्वादिसम्बन्धयोग्यरूपाभ्युपगमे च, 'अस्य'=आत्मनः, 'अस्मदभ्युपगतापत्तिः'=अस्माभिरभ्युपगतस्य कर्तृत्वस्यापत्तिः प्रसङ्ग' ।

(ल०-) न चैवं स्वभावमात्रवादसिद्धिः, तदन्यापेक्षित्वेन सामग्र्याः फलहेतुत्वात्, स्वभावस्य च तदन्तर्गतत्वेनेष्टत्वात् । निर्लोठितमेतदन्यत्रेति 'आदिकरत्व'सिद्धिः । ३ ।

(पं०-) अत्रैव शङ्काशेषनिराकरणायाह 'न च'=नैव, 'एवं'=एतत्स्वभावताङ्गीकरणे, 'स्वभावमात्रवादसिद्धिः', स्वभावमात्रवादस्य-'कः कण्टकाना प्रकरोति तैक्ष्ण्य, विचित्रभावं मृगपक्षिणा च । स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामचारोऽस्ति कुत' प्रयत्नः ॥१॥' एवं लक्षणस्य सिद्धिः, कुत इत्याह 'तदन्यापेक्षित्वेन'=स्वभावव्यतिरिक्तकालाद्यपेक्षित्वेन, 'सामग्र्याः'-काल', स्वभावो, नियतिः, पूर्वकृतं, पुरुषश्चेत्येवंलक्षणायाः, 'फलहेतुत्वात्' फलं कार्यं प्रति निमित्तत्वात् । कथं तर्हि प्राक् स्वभाव एव फलहेतुरुपन्यस्त इत्याह 'स्वभावस्य च,' 'तदन्तर्गतत्वेनेष्टत्वात्'=सामग्र्यन्तर्गतत्वेनेष्टत्वात् फलहेतुतया । 'निर्लोठितं'=निर्णीतम्, 'एतद्'=सामग्र्याः फलहेतुत्वम्, 'अन्यत्र'=उपदेशपदादौ ।

४. तित्थयराणं (तीर्थकरेभ्यः)

(ल०-वेदवादिमतनिरासः) एवमादिकरा अपि कैवल्याद्यप्यनन्तरापवर्गवादिभिरागमधार्म्मिकैरतीर्थकरा एवेष्यन्ते, 'अकृत्स्नकर्मक्षये(प्र०.. अकृत्स्नक्षये)कैवल्याभावाद्' इतिवचनात् । तन्निरासेनैषां तीर्थकरत्वप्रतिपादनायाह 'तीर्थकरेभ्य इति' ।

(पं०-) 'आगमधार्म्मिकै'रिति आगमप्रधाना धार्म्मिका आगमधार्म्मिका' वेदवादिनस्ते । ते हि धर्म्माधर्म्मादिकेऽतीन्द्रियार्थे आगममेव प्रमाणं प्रतिपद्यन्ते, न प्रत्यक्षादिकमपि; यदाहुस्ते 'अतीन्द्रियाणामर्थानां साक्षाद्द्रष्टा न विद्यते । वचनेन हि नित्येन, यः पश्यति स पश्यति ॥१॥' इति ।

(ल०-तीर्थस्वरूपम्) तत्र तीर्थकरणशीलाः तीर्थकराः, अचिन्त्यप्रभावमहापुण्यसंज्ञिततन्नामकर्म्मविपाकतः, तस्यान्यथा वेदनाऽयोगात् । तत्र येनेह जीवा जन्मजरामरणसलिलं मिथ्यादर्शनाविरतिगम्भीरं महाभीषणकषायपातालं सुदुर्लङ्घ्यमोहावर्त्तरौद्रं विचित्रदुःखौघदुष्टश्वापदं रागद्वेषपवनविक्षोभितं संयोगवियोगवीचीयुक्तं प्रबलमनोरथवेलाकुलं सुदीर्घं संसारसागरं तरन्ति तत् तीर्थमिति । एतच्च यथावस्थितसकलजीवादिपदार्थप्ररूपकम्, अत्यन्तानवद्यान्याविज्ञातचरणकरणक्रियाऽऽधारं, त्रैलोक्यगतशुद्धधर्मसम्पद्युक्तमहासत्त्वाश्रयम्, अचिन्त्यशक्तिसमन्विताविसंवादिपरमबोहित्थकल्पं प्रवचनं सङ्घो वा, निराधारस्य प्रवचनस्यासम्भवात् । उक्तं च 'तित्थं भंते ! तित्थं ? तित्थगरे

तित्थं ?' 'गोयमा ! अरहा (प्र०...अरिहा) ताव नियमा तित्थंकरे, तित्थं पुण चाउव्वण्णो समणसङ्घो' ।

(पं०—) 'महाभीषणकषायपाताल'मिति, पातालप्रतिष्ठितत्वात् तद्वद्गाम्भीरत्वाच्च पातालानि, योजनलक्ष-प्रमाणाश्चत्वारो महाकलशा', यथोक्तम्, "पणनउई उ सहस्सा, ओगाहित्ता चउद्दिसिं लवण । चउरोऽलिंजर-संठाणसंठिया होंति पायाला ॥१॥" ततो महाभीषणाः कषाया एव पातालानि यत्र स तथा तं, 'त्रैलोक्य-गतशुद्धधर्मसम्पद्युक्तमहासत्त्वाश्रयमिति,' त्रैलोक्यगता=भुवनत्रयवर्त्तिन, शुद्धया=निर्दोषया, धर्म-सम्पदा=सम्यक्त्वादिरूपया, समन्विता=युक्ता, महासत्त्वा—उत्तमप्राणिनः आश्रय—आधारो यस्य तत्तथा ।

(ल०—) ततश्चैतदुक्तं भवति-घातिकर्म्मक्षये ज्ञानकैवल्ययोगात्तीर्थकरनामकर्मोदयतस्तत्स्व-भावतया आदित्यादिप्रकाशनिदर्शनतः,

(पं०—)'घातिकर्म्मेत्यादि'. 'घातिकर्मक्षये'=ज्ञानावरणाद्यदृष्टचतुष्टयप्रलये, ज्ञानकैवल्ययोगात् 'ज्ञान-कैवल्यस्य'=केवलज्ञानदर्शनलक्षणस्य च, (योगात्=) सम्बन्धं प्राप्य 'तीर्थकरनामकर्मोदयात्'=तीर्थकरनाम्न कर्म्मणो विपाकाद्धेतोः, 'तत्स्वभावतया'=तीर्थकरणस्वाभाव्येन, कथमित्याह

'आदित्यादिप्रकाशनिदर्शनतः' इति—'तत्स्वाभाव्यादेव प्रकाशयति भास्करो यथा लोकम् । तीर्थप्र-वर्त्तनाय प्रवर्त्तते तीर्थकर एवम्' ॥१॥ (तत्त्वार्थभाष्ये कारिका ९) आदिशब्दाच्चन्द्रमण्यादिनिदर्शनग्रह', किमित्याह

(ल०—) शास्त्रार्थप्रणयनात् , मुक्तकैवल्ये तदसम्भवेनागमानुपपत्तेः, भव्यजनधर्मप्रवर्त्तकत्वेन परम्परानुग्रहकरास्तीर्थकरा इति तीर्थकरत्वसिद्धिः । ४ ।

(पं०—) 'शास्त्रार्थप्रणयनात्' 'शास्त्रार्थस्य'=मातृकापदत्रयलक्षणस्य, 'प्रणयनाद्'=उपदेशनात् ,तीर्थकरा इति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः । विपक्षे बाधकमाह—'मुक्तकैवल्ये'=अपवर्गलक्षणे,'तदसम्भवेन'=शास्त्रार्थप्रणयनाघ-टनेनाशरीरतया प्रणयनहेतुमुखाद्यभावाद् ,'आगमानुपपत्तेः'आगमस्य परैरपि प्रतिपन्नस्य'अनुपपत्ते.'=अयोगात् । न चासावकेवलिप्रणीतो,व्यभिचारासम्भवात् ,नाप्यपौरुषेयस्तस्य निपेत्स्यमानत्वात् , कीदृशा सन्त. इत्याह'भव्य-जनधर्म्मप्रवर्त्तकत्वेन'=योग्यजीवधर्म्मावतारकत्वेन, "परम्परानुग्रहकराः," 'परम्परया'=व्यवधानेन, अनु-ग्रहकरा=उपकारकराः,कल्याणयोग्यतालक्षणो हि जीवाना स्वपरिणाम एव क्षायोपशमिकादिरनन्तरमनुग्रहहेतुः तद्धेतु-तया च भगवन्तो; अथवा 'परम्परया'=अनुबन्धेन स्वतीर्थानुवृत्तिकालं यावत् सुदेवत्वसुमानुषत्वादिकल्याणलाभलक्ष-णया वाऽनुग्रहकरा इति ॥

५. सयंसंबुद्धाणं (स्वयंसंबुद्धेभ्यः)

(ल०—) एतेऽप्यप्रत्ययानुग्रहबोधतन्त्रैः सदाशिववादिभिस्तदनुग्रहबोधवन्तोऽभ्युपगम्यन्ते 'महेशानुग्रहाद् बोधनियमा'विति वचनात् , एतद्व्यपोहायाह—"स्वयंसम्बुद्धेभ्यः" तथाभव्यत्वादि-सामग्रीपरिपाकतः प्रथमसम्बोधेऽपि,

(पं०—) 'अप्रत्ययानुग्रहबोधतन्त्रैरिति,' 'अप्रत्ययो'=हेतुनिरपेक्षात्मलाभत्वेन महेशः, तस्य 'अनुग्रहो'=बोधयोग्यस्वरूपसम्पादनलक्षण उपकारस्तेन 'बोधः'=सदसत्प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुर्ज्ञानविशेषस्तत्प्रधान'स्तन्त्र'=आगमो येषा ते तथा तैः, 'सदाशिववादिभिः'—ईश्वरकारणिकैः, तन्त्रमेव दर्शयति—'महेशानुग्रहाद्बोधनियमादि'ति, बोधो उक्तरूपो 'नियम'श्च=सदसदाचारप्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणः, बोधनियमादिति तु पाठे बोधस्य 'नियमः'—प्रतिनियतत्वं तस्मात। 'तथे'त्यादि तथा—तेनप्रकारेण प्रतिविशिष्टं भव्यत्वमेव तथाभव्यत्वं, आदिशब्दात् तदन्यकालादिसहकारिकारणपरिग्रहः, तेषां 'सामग्री'=सहतिः, तस्या य. 'परिपाकः'=विपाकः, अव्याहता स्वकार्यकरणशक्तिः तस्मात्। 'प्रथमसम्बोधेऽपि'=प्रथमसम्यक्त्वादिलाभेऽपि, किं पुनस्तीर्थकरभवप्राप्तावपरोपदेशेनाप्रथमसम्बोध इति 'अपि' शब्दार्थः, स्वयंसंबुद्धा इतियोग.। कुत इत्याह,

(ल०—) स्वयोग्यता प्राधान्यात्, त्रैलोक्याधिपत्यकारणाचिन्त्यप्रभावतीर्थकरनामकर्मयोगे चापरोपदेशेन स्वयं-आत्मनैव सम्यग्वरबोधिप्राप्त्या बुद्धा मिथ्यात्वनिद्रापगमसम्बोधने स्वयंसम्बुद्धा', न चैवं (प्र०...न वै) कर्मणो योग्यताऽभावे तत्र क्रिया क्रिया, स्वफलाप्रसाधकत्वात्, प्रयासमात्रत्वात् अश्वमापादौ शिक्षापक्त्याद्यपेक्षया।

(पं०) 'स्वयोग्यताप्राधान्यात्', स्वयोग्यताप्रकर्षो हि भगवतां प्रथमबोधे प्रधानो हेतु', लूयते केदारः स्वयमेवेत्यादाविव केदारादेर्लवतो। 'न वै' इत्यादि=नैव 'कर्मणः'=क्रियाविषयस्य कर्मकारकस्येत्यर्थो। 'योग्यताऽभावे'=क्रिया प्रति विषयतया परिणतिस्वभावाभावे, 'तत्र'=कर्मणि, 'क्रिया'=सदाशिवानुग्रहादिका, क्रिया भवति, किन्तु? क्रियाभासैव। कुत इत्याह, 'स्वफलाप्रसाधकत्वात्'=अभिलषितबोधादिफलाप्रसाधकत्वाद्; एतदपि कुत इत्याह, 'प्रयासमात्रत्वात् क्रियाः,' कथमेतत्सिद्धमित्याह—'अश्वमापादौ' कर्मणि, आदिशब्दात् कर्पासादिपरिग्रहः, "शिक्षापक्त्याद्यपेक्षया" शिक्षा, पक्तिम्, आदिशब्दाल्लाक्षारागादि वाऽपेक्ष्य।

(ल०—) सकललोकसिद्धमेतदिति नाभव्ये सदाशिवानुग्रहः, सर्वत्र तत्प्रसङ्गाद्, अभव्यत्वाविशेषादिति परिभावनीयं, बोधिभेदोऽपि तीर्थकरातीर्थकरयोर्न्याय्य एव।

(पं०) "सकललोकसिद्धमेतत्" क्रियाया प्रयासमात्रत्व, भवतु नामापरकर्तृकायाः क्रियायाः इत्थमक्रियात्वं, न पुन सदाशिवकर्तृकायाः, तस्या अचिन्त्यशक्तित्वादित्याशङ्कयाह "इति" एव कर्मणो योग्यताभावे क्रियाया अक्रियात्वे एकान्तिके सार्वत्रिके च सकललोकसिद्धे "न" नैव, "अभव्ये" निर्वाणायोग्ये प्राणिनि सदाशिवानुग्रहः, यदि हि स्वयोग्यतामन्तरेणापि सदाशिवानुग्रहः स्यात्, ततोऽसावभव्यमप्यनुगृह्णीयात्, नचानुगृह्णाति, कुत इत्याह—"सर्वत्र" अभव्ये "तत्प्रसङ्गात्" सदाशिवानुग्रहप्रसङ्गाद्, एतदपि कुत इत्याह—"अभव्यत्वाविशेषात्" को हि नामाभव्यत्वे समेऽपि विशेषो? येनैकस्यानुग्रहो नान्यस्येति, एतत्परिभावनीय यथा स्वयोग्यतैव सर्वत्रफलहेतुरिति। वरबोधिप्राप्त्येत्युक्त, तत्सिद्ध्यर्थमाह—"बोधिभेदोऽपि" सम्यक्त्वादि—

मोक्षमार्गभेदोऽपि, आस्तां तदाश्रयस्य विमूल्यादेः, तीर्थकरातीर्थकरयोः "न्याय्य एव" युक्तियुक्त एव युक्तिमेवाह

(ल०-) विशिष्टेतरफलयोः परम्पराहेतोरपि भेदात्, एतदभावे तद्विशिष्टेतरत्वानुपपत्तेः; भगवद्बोधिलाभो हि परम्परया भगवद्भावनिर्वर्त्तनस्वभावो, न त्वन्तकृत्केवलिबोधिलाभवदतत्स्वभावः, तद्वत्ततस्तद्भावासिद्धेरिति, तदात्कल्याणाक्षेपकानादितथाभव्यताभावभाज एते इति स्वयंसम्बुद्धत्वसिद्धिः ॥ ५ ॥ एवमादिकर्तॄणां तीर्थकरत्वेनान्यासाधारणस्वयंसम्बोधेनेति स्तोतव्यसम्पद एव प्रधाना साधारणासाधारणरूपा हेतुसम्पदिति ॥ २ ॥

(पं०-) "विशिष्टेतरफलयोः परम्पराहेत्वोरपि" विशिष्टफलस्येतरफलस्य च परम्पराहेतो:-व्यवहितकारणस्य, किं पुनरनन्तरकारणस्येत्यपिशब्दार्थः "भेदात्"परस्परविशेषात्, कुत इत्याह-"एतदभावे" परम्पराहेत्वोर्भेदाभावे "तद्विशिष्टेतरत्वानुपपत्तेः" तस्य-फलस्य यद्विशिष्टत्वमितरत्वं चाविशिष्टत्वं तयोरयोगाद्, एतदेव भावयति-भगवद्बोधिलाभो हि "परम्परया" अनेकभवव्यवधानेन "भगवद्भावनिर्वर्त्तनस्वभावो" भगवद्भावः तीर्थकरत्वं, व्यतिरेकमाह-'ननु' न पुनः 'अन्तकृत्केवलिबोधिलाभवत्' अन्तकृतो गजसुकुमाला-दिकेवलिनो बोधिलाभ इव 'अतत्स्वभावो' भगवद्भावानिर्वर्त्तनस्वभावः, एतदपि कथमित्याह-'तद्वदिति' तस्मादिवान्तकृत्केवलिबोधिलाभादिवत्, 'ततः' तीर्थकरबोधिलाभात्, 'तद्भावासिद्धेः, तीर्थकरभावासिद्धेरिति 'स्वयंसम्बुद्धत्वसिद्धिः' ।

६. पुरिसुत्तमाणं (पुरुषोत्तमेभ्यः)

(ल०-) एते च सर्वसत्त्वैवंभाववादिबौद्धविशेषैः सामान्यगुणत्वेन न प्रधानतयाऽङ्गीक्रियन्ते, 'नास्तीह कश्चिदभाजनः (प्र०...०जनं) सत्त्वः' इतिवचनात्, तदेतन्निराचिकीर्षयाऽऽह

(पं०-) 'सर्वसत्त्वेत्यादि' सर्वसत्त्वानां निखिलजीवानामेवंभाव-विवक्षितैकप्रकारत्वं वदन्तीत्येवंशीलास्तैर्बौद्धविशेषैः सौगतभेदैर्वैभाषिकैरिति सम्भाव्यते, तेषामेवनिरुपचरितसर्वास्तित्वाभ्युपगमात्, सामान्याः-साधारणा गुणाः-परोपकारकरणादयो येषां ते तथा तद्भावस्तत्त्वं तेन, 'न' नैव 'प्रधानतया' अतिशायितया 'अङ्गीक्रियन्ते' इष्यन्ते, कुत इत्याह-'नास्ति' न विद्यते 'इह' लोके 'कश्चिन्' नरनारकादिः 'अभाजनो (नञ्)' अपात्रमयोग्य इत्यर्थः, 'सत्त्वः' प्राणी इतिवचनाद् एवंरूपाप्तोपदेशात् ।

(ल०-) पुरुषोत्तमेभ्यः' इति, पुरिशयनात् पुरुषाः-सत्त्वा एव, तेषां उत्तमाः-सहजतथाभव्यत्वादिभावतः प्रधानाः पुरुषोत्तमाः, तथाहि-आकालमेते परार्थव्यसनिनः उपसर्ज्जनीकृतस्वार्था उचितक्रियावन्तः अदीनभावाः सफलारम्भिणः अदृढानुशयाः कृतज्ञतापतयः अनुपहतचित्ता देवगुरुबहुमानिनस्तथा गम्भीराशया इति ।

(पं०-) 'पुरुषोत्तमेभ्य इति' 'अदृढानुशया इति' अदृढः-अनिबिडोऽपकारिण्यप्यनुशयः-अपकारबुद्धिर्येषां ते तथा,

(ल०) न सर्व एव एवंविधाः, खडुङ्कानां व्यत्ययोपलब्धेः, अन्यथा खडुङ्काभाव इति। (प्रत्यन्तरे 'खुडुङ्क' पाठो लभ्यते)

(पं०) 'न सर्वेत्यादि', 'न'=नैव, 'सर्व एव' सत्त्वा., 'एवंविधाः'=भाविभगवद्भावसत्त्वसमी', कुत इत्याह 'खडुङ्कानां'=सम्यक् शिक्षानर्हाणां 'व्यत्ययोपलब्धेः'=प्रकृतविपरीतगुणदर्शनाद्, व्यतिरेकमाह 'अन्यथा'=प्रकृतगुणवैपरीत्याभावे, 'खडुङ्काभावः'=खडुङ्कानामुक्तलक्षणानामभावः, (प्रत्यन्तरयो.'खुडुङ्क खुडङ्क'पाठः)स्वलक्षणस्यैव अभावात्(प्रत्यन्तरे'भावात्'पाठ')न च न सन्ति ते, सर्वेषामविगानात्।

(ल०) भाशुद्धमपि जात्यरत्नं समानमजात्यरत्नेन। न चेतरदितरेण। तथासंस्कारयोगे सत्युत्तरकालमपि तद्भेदोपपत्तेः। न हि काचः पद्मरागी भवति, जात्यनुच्छेदेन गुणप्रकर्ष-(प्र०...र्षा) भावात्। इत्थं चैतदेवं, प्रत्येकबुद्धादिवचनप्रामाण्यात्, तद्भेदानुपपत्तेः। न तुल्यभाजनतायां तद्भेदो न्याय्य इति।

(पं०) अस्तु तीर्थकरत्वहेतुबोधिलाभे भगवतामन्यासमानता, इतरावस्थायां तु कथमित्याशङ्क्य प्रतिवस्तूपमया साधयितुमाह 'न'=नैव, 'अशुद्धमपि'=मलभरतमपि, 'जात्यरत्नं'=पद्मरागादि, 'समानं'=तुल्यम्, 'अजात्यरत्नेन'—काचादिना। शुद्धं सत् समान न भवत्येवेति 'अपि'शब्दार्थः। 'न चेतरद्' इति, 'इतरद्'=अजात्यरत्नं, 'इतरेण'—जात्यरत्नेन। कुत इत्याह 'तथा'=अशुद्धावस्थायामसमानतायां सत्यां 'संस्कारयोगे' शुद्ध्युपायक्षारमृत्पुटपाकसंयोगे, 'उत्तरकालमपि' किं पुनः पूर्वकालमिति 'अपे'रर्थ', 'तद्भेदोपपत्ते', तयोः=जात्याजात्यरत्नयोः ('भेदोपपत्ते'=') असादृश्यघटनात्। तद्भेदोपपत्तिमेव भावयति 'न हि काचः पद्मरागीभवति' सत्स्कारयोगेऽपीति गम्यते। हेतुमाह 'जात्यनुच्छेदेन'=काचादिस्वभावानुच्छेदनेन, 'गुणप्रकर्षभावात्'=गुणानां कान्त्यादीनां वृद्धिभावात्। ('वृद्ध्यभावात्' इति च पाठः)। इदमेव तन्त्रयुक्त्या साधयितुमाह 'इत्थं च'—इत्थमेव=जात्यनुच्छेदेनैव, चकारस्यावधारणार्थत्वात्। 'एतत्'=गुणप्रकर्षभावलक्षणं वस्तु, कुत इत्याह 'एवम्'=अनेन जात्यनुच्छेदेन गुणप्रकर्षभावलक्षणप्रकारेण। 'प्रत्येकबुद्धादिवचनप्रामाण्यात्'=प्रत्येकबुद्ध बुद्धबोधित स्वयंबुद्धादीनां पृथग्भिन्नस्वरूपाणां 'वचनानि'=निरूपका ध्वनयः, तेषां 'प्रामाण्यम्'=आप्तोपदिष्टत्वेनाभिधेयार्थाव्यभिचारिभावः, तस्मात्। अस्यैव व्यतिरेकेण समर्थनार्थमाह 'तद्भेदानुपपत्तेः'। इह 'अन्यथा' शब्दाध्यारोपाद् 'अन्यथा तद्भेदानुपपत्ते'रिति योज्यम्। तद्भेदानुपपत्तिमेव भावयति, 'न'=नैव, 'तुल्यभाजनतायां'=तुल्ययोग्यतायां, 'तद्भेदः'=प्रत्येकबुद्धादिभेदो, 'न्याय्यो'=युक्तिसंगतः, 'इति'।

(ल० मोक्षे कथं न भेदः?)

न चात एव मुक्तावपि विशेषः, कृत्स्नकर्मक्षयकार्यत्वात्, तस्य चाविशिष्टत्वात्। दृष्टश्च दरिद्रेश्वरयोरप्यविशिष्टो मृत्युः, आयुःक्षयाविशेषात्। न चैतावता तयोः प्रागप्यविशेषः, तदन्यहेतुविशेषात्। निदर्शनमात्रमेतद् इति पुरुषोत्तमाः ॥ ६ ॥

(पं०) एवं सत्त्वभेदसिद्धौ मुक्तावपि तद्भेदप्रसङ्ग इति पराशङ्कापरिहारायाह 'न च'=नैव, 'अत एव'—इह सत्त्वभेदसिद्धेरेव हेतुतः, 'मुक्तावपि'=मोक्षेऽपि, न केवलमिह, 'विशेषो'=भेदः, तत्रापि सत्त्वमात्रभावात्। कुत इत्याह 'कृत्स्नकर्मक्षयकार्यत्वात्'—ज्ञानावरणादिनिखिलकर्म्मक्षयानन्तरभावित्वान्मुक्तेः, एवमपि किम् इत्याह 'तस्य च'—कृत्स्नकर्म्मक्षयस्य, 'अविशिष्टत्वात्'=सर्वमुक्तानामेकादृशत्वात्। तदेवार्थान्तरदर्शनेन भावयति 'दृष्टश्च'=उपलब्धश्च, 'दरिद्रेश्वरयोरपि'=पुरुषविशेषयोरपि, किं पुनरन्ययोरविशिष्टयोरिति 'अपि' शब्दार्थः, 'अविशिष्टः'=एकरूपो 'मृत्यु'=प्राणोपरमः। कुत इत्याह 'आयुःक्षयाविशेषात्' — 'आयुःक्षयस्य' = प्राणोपरमकारणस्य, 'अविशेषाद्'=अभेदात्। कारणविशेषपूर्वकश्च कार्यविशेष इति। तर्हि तयोः प्रागप्यविशेषो भविष्यतीत्याह 'न च'—'एतावता'=मृत्योरविशेषेण, 'तयो'=दरिद्रेश्वरयोः, 'प्रागपि' मृत्युकालाद्। 'अविशेषः' उक्तरूपः। कुत इत्याह 'तदन्यहेतुविशेषात्,' तस्माद्=आयुःक्षयविशेषाद्, अन्ये=ये विभवसत्त्वासत्त्वादयो हेतवस्तैः, विशेषात्=विशिष्टीकरणात्। 'निदर्शनमात्रमेतदिति'=क्षीणसर्वकर्म्मणां मुक्तानां क्षीणायुःकर्म्मांशविशेषाभ्यां दरिद्रेश्वराभ्यां न किञ्चित्साम्यं परमार्थतः, इति दृष्टान्तमात्रमिदम्। इति पुरुषोत्तमत्वसिद्धिः।

७. पुरिससीहाणं (पुरुषसिंहेभ्यः)

साङ्कृत्यमत निरासो—

(ल०) एतेऽपि बाह्यार्थसंवादिसत्यवादिभिः साङ्कृत्यैरुपमावैतथ्येन निरुपमस्तवार्हा एवेष्यन्ते, 'हीनाधिकाभ्यामुपमामृषे'ति वचनात्। एतद्व्यवच्छेदार्थमाह 'पुरुषसिंहेभ्यः' (पुरिससीहाणं) इति। पुरुषाः प्राग्व्यावर्णितनिरुक्ताः, ते सिंहा इव प्रधानशौर्यादिगुणभावेन ख्याताः पुरुषसिंहाः। ख्याताश्च कर्मशत्रून् प्रति शूरतया, तदुच्छेदनं प्रति क्रौर्येण, क्रोधादीन् प्रति त्वसहनतया, रागादीन् प्रति वीर्ययोगेन, तपःकर्म प्रति वीरतया। अवज्ञैषां परीषहेषु, न भयमुपसर्गेषु, न चिन्तापीन्द्रियवर्गे, न खेदः संयमाध्वनि, निष्प्रकम्पता सद्ध्यान इति।

(पं०) 'बाह्ये' इत्यादि। सम्यक्कुसुमभावप्रवर्त्तकमितरनिवर्त्तकं च वचनं सत्यमसत्यं वा निश्चयतः सत्यं, तत्प्रतिषेधेन "बाह्यार्थसंवाद्येव'=अभिधेयार्थाव्यभिचार्येव, 'सत्यवादिभिः'=व्यवहाररूपं सत्यं वक्तव्यमिति वदितुं शीलं येषां ते तथा, तैः। 'साङ्कृत्यैः'=सङ्कृताभिधानप्रवादिशिष्यैः, 'उपमावैतथ्येन'=सिंहपुण्डरीकादिसादृश्यालीकत्वेन, 'निरुपमस्तवार्हाः एव'=सर्वासादृश्येन वर्णनयोग्याः, 'इष्यन्ते'। कुत इत्याह 'हीनाधिकाभ्यां', 'हीनेन'=उपमेयार्थान्नीचेन, 'अधिकेन च'=उत्कृष्टेन, उपमेयार्थादेव; 'उपमा'=सादृश्यं, 'मृषा'=असत्या, 'इतिवचनात्'=एवंप्रकाराऽऽगमात्।

(ल०) न चैवमुपमा मृषा, तद्द्वारेण तत्त्वतः तदसाधारणगुणाभिधानात्। विनेयविशेषानुग्रहार्थमेतत्। इत्थमेव केषाञ्चिदुक्तगुणप्रतिपत्तिदर्शनात्। चित्रो हि सत्त्वानां क्षयोपशमः; ततः कस्यचित् कथंचिदाशयशुद्धिभावात्।

(पं०) 'न चैवम्' इत्यादि,—'न च'—नैव, 'एवम्'=उक्तप्रकारेण, 'उपमा' सिंहसादृश्यलक्षणा, 'मृषा'—अलीका। कुत इत्याह 'तद्द्वारेण'=सिंहोपमाद्वारेण, 'तत्त्वतः'=परमार्थमाश्रित्य, न शाब्दव्यवहारतः, 'तदसाधारणगुणाभिधानात्'—'तेषां'=भगवताम्, 'असाधारणाः'=सिंहादौ क्वचिदन्यत्र अवृत्ता (अत्यन्तरे 'अप्रवृत्ता') ये 'गुणाः'—शौर्यादयस्तेषाम्, 'अभिधानात्'=प्रत्यायनात्। ननु तदसाधारणगुणाभिधायिन्युपमान्तरे (अत्यन्तरे 'उपायान्तरे') सत्यपि किमर्थमित्थमुपन्यासः कृतः? इत्याह 'विनेयविशेषानुग्रहार्थमेतत्'=विनेयविशेषाननुग्रहीतुमिदं सूत्रमुपन्यस्तम्। एतदेव भावयति 'इत्थमेव' =प्रकृतोपमोपन्यासेनैव, 'केषाञ्चिद्'=विनेयविशेषाणाम्, 'उक्तगुणप्रतिपत्तिदर्शनात्,'—'उक्तगुणाः' =असाधारणाः शौर्यादयः, तेषां ('प्रतिपत्तिदर्शनात्'=) प्रतीतिदर्शनात्। कुत एतदेवमित्याह 'चित्रो'= नैकरूपो, 'हि'=यस्मात्, 'सत्त्वानां'=प्राणिनां, 'क्षयोपशमः'—ज्ञानावरणादिकर्म्मणां क्षयविशेषलक्षणः। 'ततः'=क्षयोपशमवैचित्र्यात्, 'कस्यचिद्'=विनेयस्य, 'कथञ्चित्'=प्रकृतोपमोपन्यासादिना प्रकारेण, 'आशयशुद्धिभावात्'=चित्तप्रसादभावात्। नैवमुपमा मृषा इति योगः।

(ल०) यथाभव्यं व्यापकश्चानुग्रहविधिः, उपकार्यात् प्रत्युपकारलिप्साऽभावेन महतां प्रवर्त्तनात्। महापुरुषप्रणीतश्चाधिकृतदण्डकः आदिमुनिभिरर्हच्छिष्यैर्गणधरैः प्रणीतत्वात्। अत एवैष महागम्भीरः, सकलन्यायाकरो, भव्यप्रमोदहेतुः, परमार्षरूपो, निदर्शनमन्येषाम्, इति न्याय्यमेतद् यदुत 'पुरुषसिंहा' इति।

(पं०) यदि नाम हीनोपमयापि सिंहादिरूपया कस्यचिद् भगवद्गुणप्रतिपत्तिर्भवति तथापि सा न सुन्दरेति (अत) आह 'यथाभव्यं'=यो यथाभव्योऽनुग्रहीतुं योग्यो यथाभव्यं योग्यतानुसार, तेन, 'व्यापकश्च'=सर्व्वानुयायी पुनः, 'अनुग्रहविधिः'=उपकारकरणम्। अत्र हेतु' 'उपकार्याद्'=उपक्रियमाणात्, 'प्रत्युपकारलिप्साऽभावेन'=उपकार्यं प्रतीत्योपकर्तुरनुग्रहकरणं प्रत्युपकार', तत्र 'लिप्साऽभावेन'=अभिलाषनिवृत्त्या, 'महतां'=सतां 'प्रवर्त्तनात्'। अत इत्थमेव केचिदनुगृह्यन्ते, इत्येवमप्युपमाप्रवृत्तिरदुष्टेति। 'परमार्षरूप' इति, 'परमं'=प्रमाणभूतं, यद् 'आर्षं'—ऋषिप्रणीतं, तद्रूप'। 'इति'—इत्येवं 'पुरुषसिंहा' इत्येतदुपमानं 'न्याय्यं'=युक्तियुक्तम्।

८. पुरिसवरपुण्डरीयाणं (पुरुषवरपुण्डरीकेभ्यः)

अविरुद्धधर्म्माध्यास वाद—सुचारुमतनिरासौः

(ल०) एते चाविरुद्धधर्म्माध्यासितवस्तुवादिभिः सुचारुशिष्यैः विरुद्धोपमाऽयोगेनाभिन्नजातीयोपमार्हा एवाभ्युपगम्यन्ते; विरुद्धोपमायोगे तद्धर्मापत्त्या तदवस्तुत्वमितिवचनात्।

(पं०) 'एते च' इत्यादि=एते च पूर्वसूत्रोक्तगुणभाजोऽपि, 'अभिन्नजातीयोपमार्हा एवेष्यन्ते' इति योग। कैरित्याह 'अविरुद्धैः'=एकजातीयै, 'धर्म्मैः'=स्वभावै 'अध्यासितं'—आक्रान्तं, 'वस्तु'=

उपमेयादि, वदितुं शीलं येषां ते तथा तैः, 'सुचारुशिष्यैः'=प्रवादिविशेषान्तेवासिभिः, 'विरुद्धोपमाऽयोगेन,' 'विरुद्धायाः'=उपमेयापेक्षया विजातीयायाः पुण्डरीकादिकाया 'उपमायाः'=उपमानस्य, 'अयोगेन'=अघटनेन, किम् इत्याह 'अभिन्न ...' इत्यादि, 'अभिन्नजातीयाया एव'=भगवत्तुल्यमनुष्यान्तररूपाया(एव) 'उपमायाः' 'अर्हाः'=योग्याः, 'इष्यन्ते'=अभ्युपगम्यन्ते। कुतः? इत्याह 'विरुद्ध....' इत्यादि, 'विरुद्धोपमायाः' पुण्डरिकादिरूपायाः, 'योगे'=सम्बन्धे, 'तद्धर्मापत्त्या'=विजातीयोपमाधर्मापत्त्या, ('तदवस्तुत्वं') 'तस्य'=उपमेयस्य अर्हदादिलक्षणस्य, 'अवस्तुत्वं' तादृगधर्म्मिणो वस्तुनोऽसम्भवात्। 'इतिवचनाद्'=एवंरूपाऽऽगमात्।

(ल०) एतद्व्यपोहायाह 'पुरुषवरपुण्डरीकेभ्य' इति। पुरुषाः पूर्ववत्, ते वरपुण्डरीकाणीव संसारजलासङ्गादिना धर्मकलापेन पुरुषवरपुण्डरीकाणि। यथा पुण्डरीकाणि पङ्के जातानि, जले वर्धितानि, तदुभयं विहाय वर्तन्ते, प्रकृतिसुन्दराणि च भवन्ति; निवासो भुवनलक्ष्म्याः, आयतनं (प्रत्यन्तरे 'हेतवः') चक्षुराद्यानन्दस्य, प्रवरगुणयोगतो विशिष्टतिर्यग्नरामरैः सेव्यन्ते, सुखहेतूनि च भवन्ति;

तथैतेऽपि भगवन्तः कर्मपङ्के जाताः, दिव्यभोगजलेन वर्द्धिताः, तदुभयं विहाय वर्त्तन्ते, सुन्दराश्चातिशययोगेन, निवासो गुणसंपदां, हेतवो दर्शनाद्यानन्दस्य, केवलादिगुणभावेन भव्यसत्त्वैः सेव्यन्ते, निर्वाणनिबन्धनं च जायन्ते इति।

(पं०) न च वक्तव्यं, 'पूर्वसूत्रेणैवैतत्सूत्रव्यवच्छेद्या(प्रत्यन्तरे....'दा')भिप्रायस्य सिंहोपमाया अपि विजातीयत्वेन व्यवच्छिन्नत्वात्, किमर्थमस्योपन्यास' इति?' तस्य निरुपमस्तव इत्येतावन्मात्रव्यवच्छेदकत्वेन चरितार्थस्य विवक्षितत्वात्।

वस्तु एकानेकस्वभावम्:—

(ल०) नैवं भिन्नजातीयोपमायोगेऽप्यर्थतो विरोधाभावेन यथोदितदोषसंभव इति। एकानेकस्वभावं च वस्तु, अन्यथा तत्तत्त्वासिद्धेः। सत्त्वामूर्त्तत्वचेतनत्वादिधर्म्मरहितस्य जीवत्वाद्ययोग इति न्यायमुद्रा। न सत्त्वमेवामूर्त्तत्वादि, सर्वत्र तत्प्रसङ्गात्; एवं च मूर्त्तत्वाद्ययोगः।

(प०)—'एकानेकस्वभावं (च)' चकारः प्रकृतोपमाऽविरोधभावनासूचनार्थः द्रव्यपर्यायरूपत्वात् (प्रत्यन्तरे ०रूपतया) 'वस्तु'—जीवादि इति पक्षः। अत्र हेतुः 'अन्यथा'=एकानेकस्वभावमन्तरेण ('तत्तत्त्वासिद्धेः') तस्य—वस्तुनः, तत्त्वं=वस्तुत्वं, तस्यासिद्धेः। एतद्भावनायैवाह 'सत्त्वामूर्त्तत्वचेतनत्वादिधर्मरहितस्य', 'सत्त्वं'=सत्प्रत्ययाभिधानकारित्वं, 'अमूर्त्तत्वं'—रूपादिरहितत्वं, 'चेतनत्वं'=चैतन्यवत्त्वं, 'आदि'शब्दात् प्रमेयत्वप्रदेशवत्त्वादिचित्रधर्म्मग्रहः, तैः 'रहितस्य'=अविशिष्टीकृतस्य, वस्तुनो 'जीवात्वाद्ययोग'=परस्परविभिन्नजीवत्वादिचित्ररूपाभावः, 'इति'=एषा, 'न्यायमुद्रा'=युक्तिमर्यादा वर्तते, प्रज्ञाधनैरपि परैरुल्लङ्घितुमशक्यत्वात्। ननु सत्त्वरूपानतिक्रमादमूर्त्तत्वादीनां, कथं सति सत्त्वे जीवत्वाद्ययोग

इत्याशङ्क्याह 'न'—नैव, 'सत्त्वमेव'=शुद्धसङ्ग्रहनयाभिमतं सत्तामात्रमेव, 'अमूर्त्तत्वादि'=अमूर्त्तत्वचैतन्यादि जीवादिगतं, कुत इत्याह 'सर्वत्र' सत्त्वे घटादौ, 'तत्प्रसङ्गात्'=अमूर्त्तत्वचैतन्यादिप्राप्तेः, सत्त्वैकरूपात् सर्वथाऽव्यतिरेकात् । यदि नामैवं ततः किम्? इत्याह 'एवं च'=सत्त्वमात्राभ्युपगमे च 'मूर्त्तत्वाद्ययोगो'= मूर्त्तत्वाचैतन्याद्यभावः । तद्भावे च तत्प्रतिपक्षरूपत्वादमूर्त्तत्वादीनामप्यभाव' प्रसजति, तथा च लोकप्रतीतिबाधा ।

(ल०) सत्त्वविशिष्टताऽपि न, विशेषणमन्तरेणातिप्रसङ्गात् । एवं नाभिन्ननिमित्तत्वादृऽते विरोध इति पुरुषवरपुण्डरीकाणि ॥ ८ ॥

(पं०) अत्रैव मतान्तरं निरस्यन्नाह 'सत्त्वविशिष्टतापि न' 'विशिष्टं'—स्वपरपक्षव्यावृत्तं, 'सत्त्वमपि'—बौद्धाभिमतं, 'न'=नैव, अमूर्त्तत्वादि, इत्यनुवर्तते । अविशिष्टं सत्त्वं प्रागुक्तयुक्तेरमूर्त्तत्वादि न भवत्येवेति 'अपि' शब्दार्थः । कुत इत्याह 'विशेषणं'=भेदकम्, 'अन्तरेण'=विना, 'अतिप्रसङ्गाद्'= अतिव्याप्तेः । विशिष्टतायाः सत्त्वैकरूपे जीवे भेदकरूपान्तराभावे चेतनादिविशिष्टरूपकल्पनायाम्, अजीवेऽपि तत्कल्पनाप्राप्तेरिति । 'एवं'=एकसत्त्वभावे वस्तुन्यनेकदोषोपनिपातेन विचित्ररूपवस्तुसिद्धौ 'न,' 'विरोधो'=विजातीयोपमार्प्पितधर्म्मपरस्परनिराकरणलक्षणो । विजातीयोपमायोगेऽपि किं सर्वथा न? इत्याह 'अभिन्ननिमित्तत्वादृते'=अभिन्ननिमित्तत्वं विना । यदि ह्येकस्मिन्नेवोपमेयवस्तुगते धर्म्मे निमित्ते (सति) उपमा सदृशी विसदृशी च प्रयुज्येत, ततः स्यादपि विरोधो, न तु विसदृशधर्म्मनिमित्तासूपमास्वनेकास्वपि । पुरुषवरपुण्डरीकेत्यनेन सदृशी विसदृशी चोपमा सिद्धेति । ८ ।

९. पुरिसवरगन्धहत्थीणं (पुरुषवरगन्धहस्तिभ्यः)

गुणक्रमाभिधानवाद निरासौः

(ल०) एतेऽपि (प्र०. एते च) यथोत्तरं गुणक्रमाभिधानवादिभिः सुरगुरुविनेयैर्हीनगुणोपमायोग एवाधिकगुणोपमार्हा इष्यन्ते, अभिधानक्रमाभावेऽभिधेयमपि तथा, 'अक्रमवदसद्' इति वचनात् ।

(पं०—) 'यथोत्तर' मित्यादि, 'यथोत्तरं' 'गुणानां'=पुरुषार्थोपयोगिजीवाजीवधर्म्माणां गुणस्थानकानामिव 'क्रम'=उत्तरोत्तर प्रकर्षलक्षणः, तेन 'अभिधानं'=भणनं विधेयम्, ('वादिभिः'=) वदन्तीत्येवंशीलास्तैः, 'सुरगुरुविनेयैः'=बृहस्पतिशिष्यैः, 'हीनगुणोपमायोगे एव'—हीनगुणोपमयोपमित एव गुणे,हीनगुण इत्यर्थः,'अधिकगुणोपमार्हा इष्यन्ते'—अधिकगुणोपमोपन्यासेनाधिकोगुण उपमातुं युक्त इत्यर्थः । तथाहि, गन्धगजोपमया महाप्रभावशक्रादिपुरुषमात्रसाध्ये मारीतिदुर्भिक्षाद्युपद्रवनिवर्त्तकत्वे भगवद्विहारस्य साधिते, पुण्डरीकोपमया भुवनाद्भुतभूतातिशयसम्पत्केवलज्ञानश्रीप्रभृतयो निर्वाणप्राप्तिपर्यवसाना गुणा भगवतामुपमातुं युक्ता इति । कुत इत्याह 'अभिधानक्रमाभावे'=वाचकध्वनिपरिपाटिव्यत्यये, 'अभिधेयमपि'= वाच्यमपि, 'तथा'—अभिधानवद्, 'अक्रमवत्'=परिपाटिरहितम्, 'असत्'=अविद्यमानं, क्रमवृत्तिजन्मनोऽभिधेयस्याक्रमोक्तौ तद्रूपेणास्थितत्वात् ।

(ल०–) एतन्निरासायाह 'पुरुषवरगन्धहस्तिभ्यः' इति। पुरुषाः पूर्ववदेव, ते वरगन्धहस्तिन इव गजेन्द्रा इव क्षुद्रगजनिराकरणादिना धर्मसाम्येन पुरुषवरगन्धहस्तिनः। यथा गन्धहस्तिनां गन्धेनैव तद्देशविहारिणः क्षुद्रगजा भज्यन्ते, तद्वदेतेऽपि परचक्रदुर्भिक्षमारिप्रभृतयः सर्व एवोपद्रवगजा अचिन्त्यपुण्यानुभावतो भगवद्विहारपवनगन्धादेव भज्यन्त इति।

(ल०–जैनमते न अभिधानक्रमाभावः–)

न चैकानेकस्वभावत्वे वस्तुन एवमप्यभिधानक्रमाभावः, सर्वगुणानामन्योन्यसंवलितत्वात्, पूर्वानुपूर्व्याद्यभिधेयस्वभावत्वात्; अन्यथा तथाभिधानाप्रवृत्तेः।

(पं०) 'न चे'त्यादि, 'न च'=नैव. 'एकानेकस्वभावत्वे'=एको द्रव्यतया, अनेकश्च पर्यायरूपतया, 'स्वभाव'–स्वरूपं, यस्य तत्तथा तद्भावस्तत्त्वं, तस्मिन्, 'वस्तुनः'=पदार्थस्य, 'एवमपि'=अधिकगुणोपमायोगे हीनगुणोपमोपन्यासेऽपि, 'अभिधानक्रमाभावो'=वाचकशब्दपरिपाटिव्यत्यय। कुत इत्याह 'सर्वगुणानां'=यथास्व जीवाजीवगतसर्वपर्यायाणाम्, 'अन्योन्यं'=परस्परं,'संवलितत्वात्'=एकस्वरूपत्वात्। किमित्याह 'पूर्वानुपूर्व्याद्यभिधेयस्वभावत्वात्', पूर्वानुपूर्व्यादिभि'=व्यवहारनयमतादिभिः; 'आदि'शब्दात् पश्चानुपूर्व्यनानुपूर्वीग्रह, 'अभिधेयः'=अभिधानविषयभावपरिणतिमान् 'स्वभावो' येषां ते तथा तद्भावस्तत्त्वं, तस्मात्। स्वलितरूपत्वे हि गुणानां निश्चितस्य क्रमादेरेकस्य कस्यचिदभावात्। व्यतिरेकमाह 'अन्यथा'=पूर्वानुपूर्व्यादिभिरनभिधेयस्वभावतायां गुणाना,'तथा'=पूर्वानुपूर्व्यादिक्रमेण, 'अभिधानाप्रवृत्ते'=अभिधायकाना ध्वनीनामभिधानस्य=भणनस्याप्रवृत्ते। 'नैवमप्यभिधानक्रमाभाव' इति योगः।

(ल० नाप्यभिधेयक्रमाभावः)

नैवमभिधेयमपि तथाऽक्रमवदसदिति; उक्तवदक्रमवत्त्वासिद्धेः; क्रमाक्रमव्यवस्थाभ्युपगमाच्च।

(पं०–) अभिधेयतथापरिणत्यपेक्षो ह्यभिधानव्यवहार, तत किं सिद्धमित्याह 'न' =नैव, 'एवम्'=अभिधानन्यायेन 'अभिधेयमपि तथा अक्रमवदसद्' इति परोपन्यस्त, कुत इत्याह 'उक्तवत्'=प्रतिपादितनीत्या, 'अक्रमवत्त्वासिद्धेः'=अभिधानक्रमाक्षिप्तस्य क्रमवतोऽभिधेयस्य क्रमोत्क्रमादिना प्रकारेणाभिधानार्हस्वभावपरिणतिमत्त्वात् सर्वथा क्रमरहितत्वासिद्धे। एवमभिधेयपरिणतिमपेक्ष्याभिधानद्वारेण गुणानां क्रमाक्रमावुक्तौ, इदानीं स्वभावत एवाभिधातुमाह 'क्रमाक्रमव्यवस्थाभ्युपगमाच्च'=क्रमेणाक्रमेण च सामान्येन हीनादिगुणाना गुणिनि जीवादौ 'व्यवस्थायाः'=विशिष्टाया अवस्थाया स्वरूपलाभलक्षणाया 'अभ्युपगमात्' =अङ्गीकरणात् स्याद्वादिभि, चकार पूर्वयुक्त्यपेक्षया समुच्चयार्थ।'नाभिधेयमपि तथाऽक्रमवदसदि' ति योग। पुण्डरीकोपमोपनीतात्यन्तातिशायिगुणसिद्धौ गन्धगजोपमया विहारगुणार्पणं पराभिप्रेतहीनादिगुणक्रमापेक्षयाऽक्रमवदपि नासदिति भाव।

(ल० स्तववैयर्थ्यम्:) अन्यथा न वस्तुनिबन्धना शब्दप्रवृत्तिरिति स्तववैयर्थ्यमेव। ततश्चान्धकारनृत्तानुकारी प्रयास इति। पुरुषवरगन्धहस्तिन इति।

(तृतीयसम्पदुपसंहारः)

एवं पुरुषोत्तमसिंहपुण्डरीकगन्धहस्तिधर्म्मातिशययोगत एव एकान्तेनादिमध्यावसानेषु स्तोतव्यसम्पत्तिसिद्धिः, इति स्तोतव्यसम्पद् एवासाधारणरूपा हेतुसम्पदिति ॥३॥

(पं०) अमुमेवार्थमनेनैवोपन्यासेन व्यतिरेकतः साधयितुमाह 'अन्यथा'=क्रमाक्रमव्यवस्थायाः पूर्व्वानुपूर्व्याद्यभिधेयस्वभावस्य चाभावे, 'न'=नैव, 'शब्दप्रवृत्तिः'=प्रस्तुतोपमोपन्यासरूपा, 'वस्तुनिबन्धना' =वाच्यगुणनिमित्ता, हीनादिक्रमेणैव हि गुणजन्मनियमे पुर्व्वानुपूर्व्यैवाभिधेयस्वभावत्वे च सति तन्निबन्धने च तथैव शब्दव्यवहारे कथमिव शब्दप्रवृत्तिरित्थं युज्यत इति भावः । 'इति'=अस्माद्धेतोर्वस्तुनिबन्धनशब्दप्रवृत्त्यभावलक्षणात् 'स्तववैयर्थ्यमेव' 'स्तवस्य' अधिकृतस्यैव 'वैयर्थ्यमेव'=निष्फलत्वमेव, असदर्थाभिधायितया स्तवधर्म्मातिक्रमेण स्तवकार्याकरणात् (प्रत्यन्तरे ०कार्यैकरणात्) । 'ततश्च'—स्तववैयर्थ्याच्च, 'अन्धकारनृत्तानुकारी'=सन्तमसविहितनर्त्तनसदृशः, 'प्रयासः'=स्तवलक्षण इति, न चैवमसौ, सफलारम्भिमहापुरुषप्रणीतत्वादस्य, इति पुण्डरीकोपमेयकेवलज्ञानादिसिद्धौ गन्धगजोपमेयविहारगुणसिद्धिरदुष्टेति ।

'एकान्तेने'त्यादि, 'एकान्तेन'=अव्यभिचारेण, 'आदिमध्यावसानेषु', 'आदौ'=अनादौ भवे (प्र० भवेषु) पुरुषोत्तमतया, 'मध्ये'=व्रतविधौ सिंहगन्धहस्तिधर्म्मभाक्त्वेन, 'अवसाने' च=मोक्षे पुण्डरीकोपमतया 'स्तोतव्यसम्पत्तिसिद्धिः'—स्तवनीयस्वभावसिद्धिरिति ।

१०. लोगुत्तमाणं (लोकोत्तमेभ्यः)

(ल०—) (समुदायवाचिशब्दानामनेकविधावयवेष्वपि प्रवृत्तिः)

साम्प्रतं 'समुदायेष्वपि प्रवृत्ताः शब्दा अनेकधाऽवयवेष्वपि प्रवर्त्तन्ते, स्तवेष्वप्येवमेव वाचकप्रवृत्तिः' इति न्यायसंदर्शनार्थमाह 'लोकोत्तमेभ्यः ' इत्यादि सूत्रपञ्चकम् ।

(पं०) 'अनेकधा'—अनेकप्रकारेषु, 'अवयवेष्वपि' न केवलं समुदाय इति 'अपि'शब्दार्थः । 'शब्दाः प्रवर्त्तन्ते' यथा 'सप्तर्षि' शब्दः सप्तसु ऋषिषु लब्धप्रवृत्तिः सन्नेकः सप्तर्षिः, द्वौ सप्तर्षी, त्रयः सप्तर्षय उद्गता इत्यादिप्रयोगे तदेकदेशेषु नानारूपेषु अविगानेन प्रवर्त्तते, तथा प्रस्तुतस्तवे लोकशब्द इति भावः ।

(ल०) (लोकशब्दसमुदायार्थ—प्रस्तुतार्थौ)

इह यद्यपि 'लोक' शब्देन तत्त्वतः पञ्चास्तिकाया उच्यन्ते, 'धर्म्मादीनां वृत्तिर्द्रव्याणां भवति यत्र तत् क्षेत्रम् । तैर्द्रव्यैः सह लोकस्तद्विपरीतं ह्यलोकाख्यम् ॥' इति वचनात्, तथाप्यत्र 'लोक' ध्वनिना सामान्येन भव्यसत्त्वलोक एव गृह्यते; सजातीयोत्कर्षे एवोत्तमत्वोपपत्तेः। अन्यथातिप्रसङ्गोऽभव्यापेक्षया सर्वभव्यानामेवोत्तमत्वात् । एव च नैषामतिशय उक्तः स्यादिति परिभावनीयोऽयं न्यायः । ततश्च भव्यसत्त्वलोकस्य सकलकल्याणैकनिबन्धन तथाभव्यत्वभावेनोत्तमाः लोकोत्तमाः ।

(ल०—भव्यत्वस्वरूपम्:—) 'भव्यत्वं' नाम सिद्धिगमनयोग्यत्वम्, अनादिपारिणामिको भावः ।

(पं०—) 'भव्यत्व'मित्यादि, भविष्यति विवक्षितपर्यायेणेति भव्यः, तद्भावो भव्यत्वम्। 'नामे' ति संज्ञायाम्। ततो भव्यत्वनामको जीवपर्यायः। सिध्यन्ति=निष्ठितार्था भवन्ति जीवा अस्यामिति 'सिद्धिः' सकलकर्मक्षयलक्षणा जीवावस्थैव। तत्र गमनं तद्भावपरिणमनलक्षणं 'सिद्धिगमनं' तस्य 'योग्यत्वं' नाम योक्ष्यते सामग्रीसम्भवे स्वसाध्येनेति योग्यं, तद्भावो योग्यत्वम्। 'अनादिः'=आदिरहितः, स चासौ 'परि' इति सर्वात्मना 'नामः'=प्रह्वीभावः 'परिणामः', स एव पारिणामिकश्चानादिपारिणामिको 'भावः'=जीवत्वभाव एव।

(ल० 'तथाभव्यत्व'स्वरूपम्) तथाभव्यत्वमिति च विचित्रमेतत्, कालादिभेदेनात्मनां बीजादिसिद्धिभावात्; सर्वथा योग्यताऽभेदे तदभावात्।

(पं०) एवं सामान्यतो भव्यत्वमभिधायाथ 'तदेव प्रतिविशिष्टं सत् तथाभव्यत्वम्'—इत्याह 'तथाभव्यत्वमिति च'। 'तथा'=तेनानियतप्रकारेण, 'भव्यत्व'मुक्तरूपम्, 'इति'शब्दः स्वरूपोपदर्शनार्थः, 'च' कारोऽवधारणार्थो भिन्नक्रम' ततश्च यदेतत् तथाभव्यत्वं तत् किम्? इत्याह 'विचित्रं'=नानारूपं सद् 'एतद्' एव भव्यत्वं तथाभव्यत्वमुच्यते। कुत इत्याह 'कालादिभेदेन'=सहकारिकालक्षेत्रगुर्वादिद्रव्यवैचित्र्येण, 'आत्मनां'=जीवानां, 'बीजादिसिद्धिभावात्,' 'बीजं'=धर्मप्रशंसादि, 'आदि' शब्दात् धर्मचिन्ताश्रवणादिग्रहस्तेषां, 'सिद्धिभावात्'=सत्त्वात्। व्यतिरेकमाह 'सर्वथा योग्यताऽभेदे'=सर्वैः प्रकारैरेकाकारायां योग्यतायां 'तदभावात्'—कालादिभेदेन बीजादिसिद्ध्यभावात्। कारणभेदपूर्वक' कार्यभेद इति भावः।

(ल०) तत्सहकारिणामपि तुल्यत्वमाप्तेः, अन्यथा योग्यताऽभेदायोगात् तदुपनिपाताक्षेपस्यापि तन्निबन्धनत्वात्। निश्चयनयमतमेतदतिसूक्ष्मबुद्धिगम्यम्। इति लोकोत्तमाः ॥१०॥

(पं०) पारिणामिकहेतोर्भव्यत्वस्याभेदेऽपि सहकारिभेदात् कार्यभेद इत्याशङ्कानिरासायाह, 'तत्सहकारिणामपि' 'तस्य'=भव्यत्वस्य, 'सहकारिणः'=अतिशयाधायका' प्रतिविशिष्टद्रव्यक्षेत्रादय', तेषां, न केवल भव्यत्वस्येति 'अपि'शब्दार्थ। किमित्याह 'तुल्यत्वमाप्तेः'=सादृश्यप्रसङ्गात्। अत्रापि व्यतिरेकमाह 'अन्यथा'=सहकारिसादृश्याभावे, 'योग्यतायाः'=भव्यत्वस्य, 'अभेदायोगाद्'=एकरूपत्वाघटनात्। एतदपि कुत इत्याह 'तदुपनिपाताक्षेपस्यापि,' 'तेषां'=सहकारिणाम्, 'उपनिपातो'=भव्यत्वस्य समीपवृत्ति', तस्य 'आक्षेपो'=निश्चितं स्वकालभवन, तस्य। न केवलं प्रकृतबीजादिसिद्धिभावस्येति 'अपि'-शब्दार्थ'। 'तन्निबन्धनत्वाद्'=योग्यताहेतुत्वात्। ततो योग्यताया अभेदे तत्सहकारिणामपि निश्चितमभेद इति युगपदुपनिपात प्राप्नोतीति। 'निश्चयनयमतं'=परमार्थनयाभिप्राय', 'एतद्' यदुत भव्यत्वं चित्रमिति। व्यवहारनयाभिप्रायेण तु स्यादपि तुल्यत्वं तस्य सादृश्यमात्राश्रयेणैव प्रवृत्तत्वात्।

११. लोगनाहाणं (लोकनाथेभ्यः)

(ल० ॥थलक्षणम्) तथा 'लोकनाथेभ्य' इति। इह तु 'लोक' शब्देन तथा इतरभेदाद्विशिष्ट एव, तथारागाद्युपद्रवरक्षणीयतया बीजाधानादिसंविभक्तो, भव्यलोकः परिगृह्यते; अनीदृशि नाथत्वानुपपत्तेः। योगक्षेमकृदयमिति विद्वत्प्रवादः।

(पं०) तथा 'तथे'ति समुदायेष्वपि प्रवृत्ता ..इत्यादिसूत्रं वाच्यमिति 'तथा' शब्दार्थः। एवमुत्तरसूत्रेष्विति 'तथा'शब्दार्थो वाच्य इति। **'तथेतरभेदात्', तथा'**—तत्प्रकारो भव्यरूप एव य **'इतरभेदो'** भव्यसामान्यस्य बीजाधानादिना अविभक्तीकर्तुमशक्तितस्तस्माद् **'विशिष्ट एव'**=विभक्त एव, **'तथा'**=तेन तेन प्रकारेण, **'रागाद्युपद्रवरक्षणीतया'**=रागादय एव तेभ्यो वा उपद्रवो रागाद्युपद्रव', तस्माद् रक्षणीयता—तद्विषयभावादपसारणता, तथा **'बीजाधानादिसंविभक्तो'** धर्मबीजवपनचिन्तासच्छ्रुत्यादिना कुशलाशय विशेषेण सर्वथा स्वायत्तीकृतेन 'अविभक्तः' समयापेक्षया संगतविभागवान् कृतः, भगवत्प्रसादलभ्यत्वात् कुशलाशयस्य, **'भव्यलोकः'** उक्तस्वरूप, **'परिगृह्यते'** आश्रीयते, कुत इत्याह **'अनीदृशि'**—बीजाधानाद्यविभक्ते अविषयभूते **'नाथत्वानुपपत्तेः'** भगवता नाथभावाघटनात्। कुत? यतो **'योगक्षेमकृद्'**—योगक्षेमयो' कर्त्ता, **'अयमिति'**—नाथ इत्येव **'विद्वत्प्रवादः'**—प्राज्ञप्रसिद्धि ।

(ल०—विना योगक्षेमौ न नाथता) न तदुभयत्यागाद् आश्रयणीयोऽपि, परमार्थेन तल्लक्षणायोगात्। इत्थमपि तदभ्युपगमेऽतिप्रसङ्गात्, महत्त्वमात्रस्येहाप्रयोजकत्वात्, विशिष्टोपकारकृत एव तत्त्वतो नाथत्वात्।

(पं०) योगक्षेमयोरन्यतरकृत्, सर्वथा तदकर्त्ता वा, नाथ स्यादित्याशङ्कानिरासायाह **'न'**—नैव **'तदुभयत्यागात्'**=तदुभयं योगक्षेमोभयं सर्वथा तत्परिहाराद्, अनयोरेवान्यतराश्रयणाद्वा, **'आश्रयणीयोऽपि'**=आश्रयोऽपि, अर्थित्ववशान्नाथ, किं पुनरनाश्रयणीय इति **'अपि'**शब्दार्थ'। कुत इत्याह **'परमार्थेन'**=निश्चयप्रवृत्त्या, **'तल्लक्षणायोगात्'**=नाथलक्षणायोगात्। उभयकरत्वमेव तल्लक्षणमित्युक्तमेव। विपक्षे बाधकमाह **'इत्थमपि'**=तल्लक्षणायोगेऽपि, तल्लक्षणयोगे तु प्रसज्यत एवेति **'अपि'**शब्दार्थ। **'अतिप्रसङ्गाद्'**=अकिञ्चित्करस्य कुड्यादेरपि नाथत्वप्राप्ते। तर्हि गुणैश्वर्यादिना महानेव नाथ इति नातिप्रसङ्ग, इत्याशङ्क्याह **'महत्त्वमात्रस्य'**=योगक्षेमरहितस्य महत्त्वस्यैव केवलस्य **'इह'** नाथत्वे **'अप्रयोजकत्वाद्'**=अहेतुकत्वात्, कुत इत्याह **'विशिष्टोपकारकृत एव'**=योगक्षेमलक्षणोपकारकृत एव नान्यस्य, (प्र० . नान्यथा), **'तत्त्वतो'**=निश्चयेन, **'नाथत्वात्'**=नाथभावात्।

(ल०—योगक्षेमशब्दार्थः) औपचारिकवाग्वृत्तेश्च पारमार्थिकस्तत्त्वासिद्धिः तदिह येषामेव बीजाधानोद्भेदपोषणैर्योगः क्षेम च तत्तदुपद्रवाद्यभावेन, त एवेह भव्याः परिगृह्यन्ते।

(पं—) उपचारतस्तर्हि महानाथो भविष्यतीत्याशङ्क्याह **'औपचारिवाग्वृत्तेश्च'**=उपचारेणानाथे आधिक्यसाधर्म्यान्नाथधर्माध्यारोपेण भवा औपचारिकी, सा चासौ वाग्वृत्तिश्च, तस्याः, **'चः'** पुनरर्थे। **'पारमार्थिकस्तत्त्वासिद्धिः'**=सद्भूतार्थस्तत्त्वरूपासिद्धि, इत्यनीदृशि नाथत्वानुपपत्तेरिति पूर्वेण योग'। **'तत्'**=तस्माद्, **'इह'**=सूत्रे, **'येषामेव'**=वक्ष्यमाणक्रियाविषयभूतानामेव, नान्येषा, **'बीजाधानोद्भेदपोषणैः'** धर्मबीजस्य **'आधानेन'**=प्रशंसादिना, **'उद्भेदेन'**=चिन्ताङ्कुरकरणेन, **'पोषणेन'**=सत्श्रुत्यादिकाण्डनालादिसम्पादनेन, **'योगः'**=अप्राप्तलाभलक्षण, **'क्षेमं'**च—लब्धपालनलक्षणं, **'तत्तदुपद्रवाद्यभावेन'** 'तत्तदु-

पद्रवा'=चित्ररूपाणि नरकादिव्यसनानि 'आदि' शब्दात् तन्निबन्धनभूतरागादिग्रहः, तेषाम् 'अभावेन'— अत्यन्तमुच्छेदेन, 'त एव'=नान्ये, 'भव्याः' उक्तरूपा, परिगृह्यन्ते'।

(ल०—सर्वभव्यनाथत्वे आपत्तिः) न चैते कस्यचित्सकलभव्यविषये, ततस्तत्प्राप्त्या सर्वेषामेव मुक्तिप्रसङ्गात् । तुल्यगुणा ह्येते प्रायेण, ततश्च चिरतरकालातीतादन्यतरस्माद् भगवतो बीजाधानादिसिद्धेरल्पेनैव कालेन सकलभव्यमुक्तिः स्यात् ।

(पं०) स्यान्मतम् 'अचिन्त्यशक्तयो भगवन्त सर्व्वभव्यानुपकर्त्तुं क्षमा, तत कथमयं विशेष.?' इत्याह 'न च'=नैव, 'एते'=योगक्षेमे, 'कस्यचित्'=तीर्थकृतः, 'सकलभव्यविषये'=सर्व्वभव्यानाश्रित्य प्रवृत्ते । विपक्षे बाधकमाह 'ततो'=विशिष्टात्तीर्थकरात्, 'तत्प्राप्त्या'=योगक्षेमप्राप्त्या, सकलभव्यविषयत्वे योगक्षेमयो, 'सर्व्वेषामेव'=भव्याना, 'मुक्तिप्रसङ्गात्'=योगक्षेमसाध्यस्य मोक्षस्य प्राप्ते. । एतदेव भावयन्नाह 'तुल्यगुणाः'=सदृशज्ञानादिशक्तयो, 'हि' यस्मादर्थे. 'एते'=तीर्थकरा., 'प्रायेण'=बाहुल्येन, शरीरजीविता- दिना त्वन्यथात्वमपीति प्रायग्रहणम् । 'ततः'=तुल्यगुणत्वाद् हेतो, 'चिरतरकालातीतात्'=पुद्गलपरावर्त्तपरकालभूताद्, 'अन्यतरस्माद्'=भरतादिकर्म्मभूमिभाविनो, 'भगवतः'=तीर्थकराद्, 'बीजाधानादिसिद्धेः'=बीजाधानोद्भेदपोषणनिष्पत्तेरुक्तरूपाया . 'अल्पेनैव कालेन'=पुद्गलपरावर्त्तमध्यगतेनैव, 'सकलभव्यमुक्तिः स्यात्'=सर्व्वेऽपि भव्या सिध्येयु. ।

(ल० बीजाधानादनु मोक्षकालनियमः) बीजाधानमपि ह्यपुनर्बन्धकस्य । न चास्यापि पुद्गलपरावर्त्तसंसार इति कृत्वा । तदेवं लोकनाथाः ।

(पं०) नन्वनादावपि काले बीजाधानादिसम्भवात् कथमल्पेनैव कालेन सर्वभव्यमुक्तिप्रसङ्ग इत्याशङ्क्याह 'बीजाधानमपि'=धर्म्मप्रशंसादिकमपि, आस्तां सम्यक्त्वादीति 'अपि' शब्दार्थ 'हि'= यस्माद्, 'अपुनर्बन्धकस्य'='पापं न तीव्रभावात् करोती'त्यादिलक्षणस्य 'न च'—नैव 'अस्यापि'= अपुनर्बन्धकस्यापि, आस्तां सम्यग्दृष्ट्यादे, 'पुद्गलपरावर्त्तः' समयसिद्ध', 'संसार' इति संसारकाल, 'इति कृत्वा'=इति हेतो', अल्पेनैव कालेन सर्वभव्यमुक्ति. स्यादिति योग' ।

१२. लोगहिआणं (लोकहितेभ्यः)

(ल० सर्वजीव—पञ्चास्तिकायार्थकः लोकशब्दः) तथा 'लोकहितेभ्यः' । इह लोकशब्देन सकलसांव्यावहारिकादिभेदभिन्नः प्राणिलोको गृह्यते, पञ्चास्तिकायात्मको वा सकल एव । एव चालोकस्यापि लोक एवान्तर्भावः, आकाशास्तिकायस्योभयात्मकत्वात् । लोकादिव्यवस्थानिबन्धनं तूक्तमेव ।

(पं०) 'सांव्यावहारिकभेदभिन्न' इति, नरनारकादिर्लोकप्रसिद्धो व्यवहार' संव्यवहारस्तत्र भवा सांव्यवहारिका । 'आदि' शब्दात् तद्विपरीता नित्यनिगोदावस्था असांव्यवहारिका जीवा गृह्यन्ते । त एव भेदो प्रकारो ताभ्यां भिन्न इति ।

(ल० 'हित' शब्दार्थः—) तदेवंविधाय लोकाय हिताः। यथावस्थिततद्दर्शनपूर्वकं सम्यक्प्ररूपणाचेष्टया तदायत्यबाधनेनेति च। इह यो यं याथात्म्येन पश्यति, तदनुरूपं च चेष्टते भाव्यपायपरिहारसारं, स तस्मै तत्त्वतो हित इति हितार्थः।

(प०) यथावस्थितेत्यादि, 'यथावस्थितं'—अविपरीत, 'दर्शनं'=वस्तुबोध, 'पूर्वं'=कारणं, यत्र तद् यथावस्थिततद्दर्शनपूर्वकं, क्रियाविशेषणमेतत्। 'सम्यक्प्ररूपणाचेष्टया'=सम्यक्प्रज्ञापनाव्यापारेण, 'तदायत्यबाधनेन' 'तस्य'=सम्यग्दर्शनपूर्वकं प्रज्ञापितस्य, 'आयतौ'=आगामिनि काले, 'अबाधनेन'=अपीडनेन, 'इति च'=अनेन च हेतुना, हिता इति योग। एतदेवभावयन्नाह 'इह'=जगति, 'यः'=कर्त्ता 'यं'=कर्म्मतारूपं, 'याथात्म्येन'—स्वस्वरूपानतिक्रमेण, 'पश्यति'=अवलोकते, 'तदनुरूपं च'—दर्शनानुरूप च, 'चेष्टते'=व्यवहरति, 'भाव्यपायपरिहारसारम्' अनुरूपचेष्टनेऽपि भाविनमपायं परिहरन्नित्यर्थ, न पुन सत्यभाषिलौकिककौशिकमुनिवत् भाव्यपायहेतु। 'स'=एवंरूप 'तस्मै'=यथात्म (प्रत्यन्तरे . याथात्म्य) दर्शनादिविषयीकृताय, 'हितः'—अनुग्रहहेतु, 'इति'—एवं, 'हितार्थो'=हितशब्दार्थः। कुत इत्याह

(ल०—इष्टव्याख्या—प्रकारोः—) इत्थमेव तदिष्टोपपत्तेः। इष्टं च सपरिणाम हितं, स्वादुपथ्यान्नवदतिरोगिणः।

(प—) 'इत्थमेव'=अनेनैव यथात्म(प्रत्य० याथात्म्य)दर्शनादि प्रकारेण, 'तस्य'=सद्भूतदर्शनादिक्रियाकर्त्तु, 'इष्टोपपत्तेः'=इष्टस्य क्रियाफलस्य चेतनेष्वचेतनेषु वा विषये क्रियाया सत्या स्वगतस्य, चेतनविशेषेषु तु स्वपरगतस्य वा घटनात्। इष्टमेव व्याचष्टे,—इष्टं पुनः 'सपरिणामम्'=उत्तरोत्तरशुभफलानुबन्धि, 'हितं'=सुखकारि, प्रकृतहितयोगसाध्योऽनुग्रह इति भाव। दृष्टान्तमाह 'स्वादुपथ्यान्नवत्'—स्वादुश्च जिह्वेन्द्रियप्रीणकं, पन्था इव पन्था सततोलङ्घनीयत्वाद् भविष्यत्काल तत्र साधु, पथ्य च स्वादुपथ्यं, तच्च तदन्न च, तद्वत्। 'अतिरोगिणः'—अतीतप्रायरोगवत, अभिनवे हि रोगे 'अहितं पथ्यमप्यातुरे' इतिवचनात् पथ्यानधिकार एवेति। 'इतिरोगिणः' इति पाठे, 'इति'=एवंप्रकार स्वादुपथ्यान्नार्हो यो रोगस्तद्वत इति। स्वादुग्रहणं तत्कालेऽपि सुखहेतुत्वेन विवक्षितत्वात्। अस्वादुत्वे च पथ्यस्याप्यतथाभूतत्वान्नैकान्तेनेष्टत्वमिति। उपचारतश्च स्वादुपथ्यान्नस्येष्टत्वं, तज्जन्यानुग्रहस्यैवेष्टत्वाद्, यथोक्त

'कज्जं इच्छंतेणं अणंतरं कारणपि इट्ठति। जह आहारजतित्तिं इच्छंतेणेह आहारो॥'

एवमिष्टहेतुत्वादियं क्रियाऽपि हितयोगलक्षणा इष्टा सिद्धेत्यत एव।

(ल०—विपरीतबोधादवश्यं पापबन्धः)—अतोऽन्यथा तदनिष्टत्वसिद्धिः, तत्कर्तुरनिष्टाप्तिहेतुत्वेन; अनागमं पापहेतोरपि पापभावात्।

(प०) एवं व्यतिरेकमाह 'अतः'=उक्तरूपाद 'यो य याथात्म्येन पश्यती'त्यादिकात प्रकारात्, 'अन्यथा'=प्रकारान्तरेण चेष्टाया, 'तदनिष्टत्वसिद्धि,' 'तस्याः'—चेष्टाया —अनिष्टत्वम्=असुखकारित्वं, तस्य सिद्धि=निष्पत्ति। कथमित्याह 'तत्कर्तुः'=प्रकारान्तरेण चेष्टाकर्तु, 'अनिष्टाप्तिहेतुत्वेन' अनिष्टं चेष्टा-

शुभ कर्म, तस्य **आप्तिः**=बन्ध', तस्या हेतुत्वेन प्रकारान्तरचेष्टाया' । अयमभिप्रायो, विपर्यस्तबोधो विपरीतप्रज्ञापनादिना चेतनेष्वचेतनेषु वाननु(वानु० .. प्र०)रूपं चेष्टमानोऽननुरूपचेष्टनेऽपि भाविनमपायमपरिहरन्नियमतोऽशुभकर्म्मणा बध्यते । परेषु त्वनिष्टाप्तिहेतुः स स्यान्नवेत्यनेकान्तः, अचेतनेषु न स्याच्चेतनेषु तु स्यादपीति भाव ।

ननु परेष्वहितयोगस्यानैकान्तिकत्वे कथं तत्कर्त्तुरनिष्टाप्तिहेतुत्वमनैकान्तिकं प्रकारान्तरचेष्टनस्येत्याशङ्क्याह **'अनागमम्'**=आगमादेशमन्तरेण, **'पापहेतोरपि'**=अयथावस्थितदर्शनादेरकुशलकर्म्मकारणात् **'पापभावाद्'**=अकुशलकर्म्मभावात् । पापहेतुकृतात् पुन. परेष्वपायात पापभाव एवेति **'अपि'** शब्दार्थः । अयमभिप्राय ,—आगमादेशेन क्वचिदपवादे जीववधादिषु पापहेतुष्वपि प्रवृत्तस्य न पापभाव. स्याद् ,अन्यथा तु प्रवृत्तो परेषु प्रत्यपायाभावेऽपि स्वप्रमाददोषभावान्नियमत पापभाव इति तत्कर्त्तुरनिष्टाप्तिहेतुत्वमैकान्तिकमिति ।

(ल० इतरेतरापेक्षः कर्त्तृकर्म्मप्रकारः ।)

(पं०) ननु इदमपि कथं निश्चितं यदुत अनागम पापहेतोरप्यवश्यं पापभाव इत्याशङ्क्याह **'इतरेतरापेक्षः'**=परस्पराश्रित , **'कर्त्तृकर्म्मप्रकारः'**—कारकभेदलक्षण । कर्त्ता कर्म्मापेक्ष्य व्यापारवान् कर्म्म च कर्त्तारमिति भाव । यथा प्रकाश्य घटादिकमपेक्ष्य प्रकाशक प्रदीपादि', तस्मिंश्च प्रकाशके सति प्रकाश्यमिति, तथा विपर्यस्तबोधादिपापहेतुमान् पापकर्त्ता पुमानवश्यं तथाविधकार्यरूपपापभाव एव स्यात् , पापभावोऽपि तस्मिन् पापकर्त्तरीत्यत स्थितमेतद् यदुत प्रकारान्तरचेष्टनस्यानिष्टत्वसिद्धि', हितयोगविपरीतत्वात्, विषयं प्रत्यहितयोगत्व चेति ।

(ल० जडाहितयोगः नौपचारिकः—) नाचेतनाहितयोग उपचरितः, पुनरागमकर्म्मकत्वेन ।

(पं०—)नन्वेव कथमचेतनेष्वहितयोग , तत्साध्यस्य क्रियाफलस्यापायस्य तेषु कदाचिदप्यभावात् । यदि परमुपचरित, तस्य चोपचरितत्वे हितयोगोऽपि तेषु तादृश एव प्रसजति । न च स्तवे तादृशस्य प्रयोग', सद्भूतार्थविषयत्वात् स्तवस्य । तत कथं सर्वलोकहिता भगवन्त इत्याशङ्क्याह **'न'**—नैव, **'अचेतनाहितयोगः'**अचेतनेषु=धर्मास्तिकायादिषु,**अहितयोगः**=अपायहेतुर्व्यापारो मिथ्यादर्शनादि.,**'उपचरितः'**=अध्यारोपितोऽग्निर्माणवक' इत्यादाविवाग्नित्वम् । अत्र हेतुमाह **'पुनरागमकर्म्मकत्वेन,' पुनरागमेन**=प्रत्यावृत्त्य कर्त्तर्येव क्रियाफलभूतापायभाजनीकरणेन, **कर्म्म** यस्य स पुनरागमकर्म्मको अचेतनाहितयोग', तस्य भावस्तत्वं, तेन । उपचरितोऽहितभावो न मुख्यभावकार्यकारो माणवकाग्निवत् । अचेतनाहितयोगस्तु प्रत्यावृत्त्य स्वकर्त्तर्येव क्रियाफलमपायमुपरचयन् , परवधाय दु शिक्षितस्य शस्त्रव्यापार इव तमेव घ्नन् , कथमुपचरितः स्यात् ? ।

(ल०)सचेतनस्यापि एवंविधस्यैव नायमितिदर्शनार्थः ।

(पं०)एवं तर्हि सचेतनेष्वप्यहितयोग पुनरागमकर्म्मक एव प्राप्त इति परवचनावकाशमाशङ्क्याह

'सचेतनस्यापि'=जीवास्तिकायस्य इत्यर्थः, 'अहितयोग' इति गम्यते, अनेन तस्य त्वस्त्येवेति 'अपि' शब्दार्थः । 'एवंविधस्यैव'=अचेतनसमस्यैव क्रियाफलभूतेनापायेन रहितस्यैव इत्यर्थः, 'न'-नैव, 'अयं'=प्रकृतोऽचेतनाहितयोगः, 'इति'=एतस्य पूर्वोक्तस्यार्थस्य, 'दर्शनार्थः'=व्यापक इति भाव', अहितयोगात् सचेतने कस्मिंश्चित् क्रियाफलस्यापायस्यापि भावात् ।

(ल० कङ्कटुकदृष्टान्तेन प्रयोगः)कर्तृव्यापारापेक्षमेव तत्र कार्मत्वं, न पुनः स्वविकारापेक्षं, कङ्कटुकपक्तावित्थमपि दर्शनादिति लोकहिताः ॥ १२ ॥

(पं)ननु यद्यचेतनषु क्रियाफलमपायो न समस्ति, कथं तदालम्बनप्रवृत्ताहितायोगाक्षिप्तं तेषां कर्मत्वमित्याह 'कर्तृव्यापारापेक्षमेव'=मिथ्यादर्शनादिक्रियाकृतमेव, 'तत्र'=अचेतनेषु, 'कार्मत्वम्' अवधारणफलमाह 'न पुनः स्वविकारापेक्षं'=न स्वगतापायापेक्षम् । ननु कथमित्थं कर्मभाव इत्याशङ्क्याह 'कङ्कटुकपक्तावित्थमपि दर्शनादिति,' कङ्कटुकानां=पाकानर्हाणां मुद्गादीनां, 'पक्तौ'=पचने, इत्थमपि=स्वविकाराभावेऽपि, 'दर्शनात्'=कर्मत्वस्य, 'कङ्कटुकान् पचती'ति प्रयोगप्रामाण्यादिति । एवं चाचेतनेषु हितयोगोऽपि मुख्य एव कर्तृव्यापारापेक्षयेति न तत्कारणिकत्वेन स्तवविरोध इति ।

१३. लोगपईवाणं (लोकप्रदीपेभ्यः)

¹(ल० लोकः—प्रकाशितज्ञेयभावो विशिष्टसंज्ञिलोकः)

तथा 'लोकप्रदीपेभ्यः' । अत्र लोकशब्देन विशिष्ट एव तद्देशनाद्यंशुभिर्मिथ्यात्वतमोऽपनयनेन यथार्हं प्रकाशितज्ञेयभावः संज्ञिलोकः परिगृह्यते; यस्तु नैवंभूतः तत्र तत्त्वतः प्रदीपत्वायोगाद् अन्धप्रदीपदृष्टान्तेन, यथा ह्यन्धस्य प्रदीपस्तत्त्वतोऽप्रदीप एव, तं प्रति स्वकार्याकरणात् तत्कार्यकृत एव च प्रदीपत्वोपपत्तेः; अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । अन्धकल्पश्च यथोदितलोकव्यतिरिक्तस्तदन्यलोकः, तद्देशनाद्यंशुभ्योऽपि तत्त्वोपलम्भाभावात्; समवसरणेऽपि सर्वेषां प्रबोधाश्रवणात्; इदानीमपि तद्वचनतः प्रबोधादर्शनात् ।

तदभ्युपगमवतामपि तथाविधलोकदृष्ट्यनुसारप्राधान्यादनपेक्षितगुरुलाघवं तत्त्वोपलम्भशून्यप्रवृत्तिसिद्धेरिति । तदेवंभूतं लोकं प्रति भगवन्तोऽपि अप्रदीपा एव, तत्कार्याकरणादित्युक्तमेतत् ।

(पं०—) तदभ्युपगमेत्यादि । 'तदभ्युपगमवतामपि'=सर्वप्रदीपा भगवन्तो, न पुनर्विवक्षितसंज्ञिमात्रस्यैवेत्यङ्गीकारवतामपि । न केवल प्रागुक्तान्धकल्पलोकस्येति 'अपि' शब्दार्थ । तत्त्वोपलम्भशून्यप्रवृत्तिसिद्धेरित्युत्तरेण योग । कुत इत्याह 'तथाविधलोकदृष्ट्यनुसारप्राधान्यात्' 'तथाविधः'=परमार्थतोऽसत्येऽपि तथारूपे वस्तुनि बहुरूढव्यवहारप्रवृत्त. स चासौ लोकश्च तथाविधलोक', तस्य दृष्टिः=अभिप्रायो व्यवहारनय इत्यर्थ', तस्य अनुसारः=अनुवृत्ति', तस्य प्राधान्यात् । इदमुक्तं भवति—सर्वप्रदीपत्वाभ्युपगमे

भगवतां लोकव्यवहार एव प्राधान्येनाभ्युपगतो भवति, न वस्तुतत्त्वमिति। लोकव्यवहारेण हि यथा प्रदीपः प्रदीप एव, नाप्रदीपोऽपि, कटकुड्यादीनामेवाप्रदीपत्वेन रूढत्वात्, तथा भगवन्तोऽपि सर्वप्रदीपा एव, न तु केषाञ्चिदनुपयोगादप्रदीपा अपि। ऋजुसूत्रादिनिश्चयनयमतेन तु यद् यत्र नोपयुज्यते तत् तदपेक्षया न किञ्चिदेव, यथाह मङ्गलमुद्दिश्य भाष्यकारः—

'उज्जुसुयस्स सयं संपयं च जं मंगलं तयं एकं। नाईयमणुप्पन्नं मंगलमिट्ठं परक्कं वा॥

नाईयमणुप्पन्नं, परकीयं वा पओयणाभावा। दिट्ठंतो, तो खरसिंगं, परधणमहवा जहा विहलं'॥ ति,

ततो भगवन्तोऽपि सत्त्वविशेषव्यतिरेकेणान्यत्रानुपयुज्यमाना अप्रदीपा एवेति। कथमित्याह 'अनपेक्षितगुरुलाघव'—(१) 'गुरु' निश्चयनय, तदितरो 'लघुः,' तयोर्भावो 'गुरुलाघवं' सद्भूतार्थविषयः सम्यक्स्तव'; गुरुपक्षश्च तत्राश्रयितुं युक्तो, नेतर', इति तत्त्वपक्षोपेक्षणात् अनपेक्षितं गुरुलाघवं, यत्र तद्यथा भवतीति क्रियाविशेषणमेतत्। (२) यद्वा गुणदोषविषयं गुरुलाघवमपेक्ष्य प्रेक्षावतोऽपि क्वचिद् व्यवहारतस्तत्त्वोपलम्भशून्या प्रवृत्ति' स्यात्। न चासावत्र न्यायोऽस्तीत्यतस्तन्निषेधार्थमाह अनपेक्षितगुरुलाघव मिति। तत् किमित्याह '**तत्त्वोपलम्भशून्यप्रवृत्तिसिद्धेः**,' **तत्त्वोपलम्भशून्या**=व्यवहारमात्राश्रयत्वेन न स्तवनीयस्वभावसंवित्तिमती, **प्रवृत्तिः** प्रस्तुतस्तवलक्षणा, तस्याः **सिद्धेः**=निष्पत्तेः। तद्देशनांशुभ्योऽपि तत्त्वोपलम्भाभावादिति पूर्वेण सम्बन्ध इति।

(ल०—सामर्थ्ये वस्तुस्वभावानुल्लङ्घि—) न चैवमपि भगवतां भगवत्त्वायोगः वस्तुस्वभावविषयत्वादस्य; तदन्यथाकरणे तत्तत्त्वायोगात्। स्वो भावः स्वभावः, आत्मीया सत्ता, स चान्यथा चेति व्याहतमेतत्। किं च, एवमचेतनानामपि चेतनाकरणे समानमेतदित्येवमेव भगवत्त्वायोगः, इतरेतरकरणेऽपि स्वात्मन्यपि तदन्यविधानात्, यत्किञ्चिदेतद्, इति यथोदितलोकापेक्षयैव लोकप्रदीपाः॥ १३॥

(पं०—) '**तदन्यथाकरणे तत्तत्त्वायोगादि**'ति, तस्य=जीवादिवस्तुस्वभावस्य **अन्यथाकरणे**=अस्वभावीकरणे भगवद्भिः, **तत्तत्त्वायोगात्**=तस्य वस्तुस्वभावस्य स्वभावत्वायोगात्। '**किं**'चेत्यादि, किञ्चेत्यभ्युच्चये, '**एवम्**'=अविषयेऽसामर्थ्येनाभगवत्त्वप्रसञ्जने, '**अचेतनानामपि**'=धर्मास्तिकायादीनां, किं पुन' प्रागुक्तविपरीतलोकस्याप्रदीपत्वे इति 'अपि' शब्दार्थ', '**चेतनाऽकरणे**'—चैतन्यवतामविधाने, '**समानं**'—तुल्यं प्राक्प्रसञ्जनेन, '**एतद्**'=अभगवत्त्वप्रसञ्जनम्, '**इति**'=अस्माद्धेतोः, '**एवमेव**'=अप्रदीपत्वप्रकारेणैव, '**भगवत्त्वायोग**' उक्तरूप'। अभ्युपगम्यापि दूषयन्नाह '**इतरेतरकरणेऽपि**' **इतरस्य**=जीवादे, **इतरकरणेऽपि**=अजीवादिकरणे 'अपिः' अभ्युपगमार्थे, '**स्वात्मन्यपि**'=स्वस्मिन्नपि, '**तदन्यस्य**'=व्यतिरिक्तस्य महामिथ्यादृष्ट्यादेः, '**विधानात्**'=करणात्। न चैतदस्त्यतः '**यत्किञ्चिद्**' '**एतद्**'=अभगवत्त्वप्रसञ्जनमिति।

१४. लोगपज्जोअगराणं (लोकप्रद्योतकरेभ्यः)

(ल०—लोकः—उत्कृष्टमतिश्रीगणधराः) तथा, 'लोकप्रद्योतकरेभ्यः'। इह यद्यपि लोकशब्देन प्रक्रमाद् भव्यलोक उच्यते, "भव्यानामालोको वचनांशुभ्योऽपि दर्शनं यस्मात्। एतेषां भवति तथा, तद्भावे व्यर्थ आलोकः॥" इति वचनात्;

(पं०—) 'प्रक्रमाद्' इति आलोकशब्दवाच्यप्रद्योतोपन्यासान्यथानुपपत्तेरिति, 'भव्यानाम्' इत्यादि, भव्यानां नामभव्यानामपि, 'आलोकः'=प्रकाश: सद्दर्शनहेतु: श्रुतावरणक्षयोपशमः। इदमेवान्वयव्यतिरेकाभ्यां भावयन्नाह 'वचनांशुभ्योऽपि'=प्रकाशप्रधानहेतुभ्यः, किं पुनस्तदन्यहेतुभ्य इति 'अपि'शब्दार्थः, 'दर्शनं'=प्रकाश्यावलोकनं, 'यस्मादि'ति हेतौ, 'एतेषां'=भव्यानां, 'भवति'=वर्तते, 'तथा' इति यथा दृश्यं वस्तु स्थितम्। ननु कथमित्थं नियमो, भव्यानामप्यालोकमात्रस्य वचनांशुभ्यो भावात्? इत्याह 'तद्भावे'=तथादर्शनाभावे, 'व्यर्थः'=अकिञ्चित्करस्तेषाम् 'आलोकः'। स आलोक एव न भवति, स्वकार्यकारिण एव वस्तुत्वात्। 'इतिवचनात्'=एवंभूतश्रुतप्रामाण्यात्।

(ल०—) तथाप्यत्र लोकध्वनिनोत्कृष्टमतिः भव्यसत्त्वलोक एव गृह्यते, तत्रैव तत्त्वतः प्रद्योतकरणशीलत्वोपपत्तेः।

(पं०—) 'तथापि'=एवमपि, 'अत्र'=सूत्रे, 'लोकध्वनिना'=लोकशब्देन, 'उत्कृष्टमतिः'=औत्पत्तिक्यादिविशिष्टबुद्धिमान् गणधरपदप्रायोग्य इत्यर्थः। 'भव्यसत्त्वलोक एव' न पुनरन्य। यो हि प्रथमसमवसरण एव भगवदुपन्यस्तमातृकापदत्रयश्रवणात् प्रद्योतप्रवृत्तौ दृष्टसमस्ताभिलाप्यरूपप्रद्योत्यजीवादिसप्ततत्त्वो रचितसकलश्रुतग्रन्थः सपदि सञ्जायते स इह गृह्यते इति। कुत एतदेवमित्याह 'तत्रैव'=उत्कृष्टमतावेव भव्यलोके, 'तत्त्वतो'=निश्चयवृत्त्या, 'प्रद्योतकरणशीलत्वोपपत्तेः'=(१) 'उप्पन्ने इ वा, (२) विगमे इ वा, (३) धुवे इ वा' इति पदत्रयोपन्यासेन प्रद्योतस्य प्रकृष्टप्रकाशरूपस्य तच्छीलतया विधानघटनात्। प्रद्योतकशक्तेस्तत्रैव भव्यलोके कात्स्र्न्येनोपयोग इतिकृत्वा।

(ल०—१४ पूर्वि-षट्स्थान) अस्ति च चतुर्दशपूर्वविदामपि स्वस्थाने महान् दर्शनभेदः, तेषामपि परस्परं षट्स्थानश्रवणात्।

(पं०—) अमुमेवार्थं समर्थयन्नाह 'अस्ति'=वर्तते, 'च'कार: पूर्वोक्तार्थभावनार्थः, 'चतुर्दशपूर्वविदामपि' आस्तां तदितरेषामिति 'अपि'शब्दार्थः 'स्वस्थाने'—चतुर्दशपूर्वलब्धिलक्षणे, 'महान्'—बृहन्, 'दर्शनभेदो'—दृश्यप्रतीतिविशेष, कुत इत्याह 'तेषामपि'—चतुर्दशपूर्वविदामपि, किं पुनरन्येषामसकलश्रुतग्रन्थानामिति 'अपि' शब्दार्थः, 'परस्परम्'=अन्योन्यं, 'षट्स्थानश्रवणात्'—षण्णां वृद्धिस्थानानां हानिस्थानानां चानन्तभागासङ्ख्येयभागसङ्ख्येयभागसङ्ख्येयगुणासङ्ख्येयगुणानन्तगुणलक्षणानां शास्त्र उपलम्भात्।

(ल०—) न चायं सर्वथा प्रकाशाभेदे। अभिन्नो ह्येकान्तेनैकस्वभावः; तन्नास्य दर्शनभेदहेतुतेति।

(पं०—) यद्येवं ततः किम्? इत्याह 'न च', 'अयं'=महान् दर्शनभेदः,'सर्वथा प्रकाशाभेदे'=एकाकार एव श्रुतावरणादिक्षयोपशमलक्षणे प्रकाशे इत्यर्थः। एतदेव भावयति 'अभिन्नो'=ऽनानारूपो, 'हिः'=यस्माद्, 'एकान्तेन'=नियमवृत्त्या, 'एकस्वभावः'=एकरूपः प्रकाश इति प्रकृतम्। एकान्तेनैकस्वभावे हि प्रकाशे द्वितीयादिस्वभावाभाव इति भावः। प्रयोजनमाह 'तत्'=तस्मादेकस्वभावत्वात्, 'न', 'अस्य'=प्रकाशस्य, 'दर्शनभेदहेतुता'—दृश्यवस्तुप्रतीतिविशेषनिबन्धनता।

(ल०—) स हि येन स्वभावेनैकस्य सहकारी, तत्तुल्यमेव दर्शनमकुर्वन्, न तेनैवापरस्य तत्तत्त्वविरोधादिति भावनीयम्।

(पं०) एतदेव भावयति 'स हि' =प्रकाशो(हि) 'येन स्वभावेन' आत्मगतेन 'एकस्य' द्रष्टु, 'सहकारी'=सहायो दर्शनक्रियायां साध्यायां, 'तत्तुल्यमेव' प्रथमद्रष्टृसममेव 'दर्शनं' वस्तुबोधम् 'अकुर्वन्' अविदधानो, न 'तेनैव'=प्रथमद्रष्टृसहकारिस्वभावेन (एव), अपअपरद्रष्टृसहकारित्वेनैव निराकृतेः। 'इति'=एतत्, 'भावनीयं'=अस्य भावना कार्या,—कारणभेदपूर्वको हि निश्चयत कार्यभेदः। ततोऽविशिष्टादपि हेतोर्विशिष्टकार्योत्पत्त्यभ्युपगमे, जगत्प्रतीतं कारणवैचित्र्यं व्यर्थमेव स्यात्, कार्यकारणनियमो वाऽव्यवस्थितः स्यात्, तथाचोक्तम्

"नाकारण भवेत्कार्यं, नान्यकारणकारणम्। अन्यथा न व्यवस्था स्यात् कार्यकारणयो' क्वचित्॥"

(ल०—) इतरेतरापेक्षो हि वस्तुस्वभावः, तदायत्ता च फलसिद्धिः इति उत्कृष्टचतुर्दशपूर्वविल्लोकमेवाधिकृत्य प्रद्योतकरा इति लोकप्रद्योतकराः।

(पं०—) भावनिकां स्वयमप्याह 'इतरेतरापेक्षः,' 'हिः' यस्मादर्थे 'इतरः=कारणवस्तुस्वभावः 'इतरं'=कार्यवस्तुस्वभावं, कार्यवस्तुस्वभावश्च कारणवस्तुस्वभावम्, 'अपेक्षते'=आश्रयते, इतरेतरापेक्ष' 'वस्तुस्वभावः'=कार्यकारणरूपपदार्थस्वतत्त्वम्। ततः किम्? इत्याह 'तदायत्ता च'=कार्यापेक्षकारणस्वभावायत्ता च, 'फलसिद्धिः'= कार्यनिष्पत्तिः। यादृक् प्रकाशरूप. कारणस्वभावस्तादृक् दर्शनरूप कार्यमुत्पद्यते, इति भाव.। 'इति'—अस्मात्प्रकाशभेदेन दर्शनभेदाद्धेतो 'उत्कृष्टचतुर्दशपूर्वविल्लोकमेव' नान्यान् षट्स्थानहीनश्रुतलब्धीन् 'अधिकृत्य'=आश्रित्य 'प्रद्योतकरा इति'। एव चेदमापन्नं यदुत भगवत्प्रज्ञापना—प्रद्योतप्रतिपन्ननिखिलाभिलाप्यभावकलापा गणधरा एवोत्कृष्टचतुर्दशपूर्वविदो भवन्ति गणधराणामेव भगवत. प्रज्ञापनाया एव उत्कृष्टप्रकाशलक्षणप्रद्योतसम्पादनसामर्थ्यात्। एव तर्हि गणधरव्यतिरेकेणान्येषां भगवद्वचनादप्रकाश' प्राप्नोतीति चेत्? न, भगवद्वचनसाध्यप्रद्योतैकदेशस्यैतेषु भावाद्, दिग्दर्शकप्रकाशस्येव पृथक्पूर्वादिदिक्ष्विति।

(ल०- प्रद्योत्यविचारः–) प्रद्योत्यं तु सप्तप्रकारं जीवादितत्त्वम् । सामर्थ्यगम्यमेतत्, तथाशाब्दन्यायात् । अन्यथा अचेतनेषु प्रद्योतनायोगः, प्रद्योतनं प्रद्योत इति भावसाधनस्यासम्भवात् ।

(पं०–) एवं प्रद्योतकरसिद्धौ प्रद्योतनीयनिर्द्धारणायाह 'प्रद्योत्यं तु'=प्रद्योतविषयः पुनः, 'सप्तप्रकारं'=सप्तभेदं, 'जीवादितत्त्वं'=जीवाजीवाश्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षलक्षणं वस्तु, 'सामर्थ्यगम्यमेतत्' सूत्रानुपात्तमपि, कुत इत्याह 'तथाशाब्दन्यायात्'=क्रियाकर्तृसिद्धौ। सकर्मकेषु धातुषु नियमतस्तत्प्रकारकर्म्मभावात् । आह 'जीवादितत्त्व प्रद्योतधर्म्मकमपि कस्मान्न भवति येन सम्पूर्णस्यैव लोकस्य भगवतां प्रद्योतकरत्वसिद्धिः स्याद् ?' इत्याशङ्क्य व्यतिरेकमाह 'अन्यथा'=प्रद्योत्यत्वं विमुच्य, 'अचेतनेषु'=धर्म्मास्तिकायादिषु 'प्रद्योतनायोगः'। कथमित्याह 'प्रद्योतनं प्रद्योत इति भावसाधनस्यासम्भवात्'। आप्तवचनसाध्य श्रुतावरणक्षयोपशमो भाव, साधनं तु प्रद्योत. (प्र०...भावसाधन , प्र०....भावप्रद्योतः) कथमिवासावचेतनेषु स्यात् ?

(ल०–अचेतनविषयं कीदृक् प्रद्योतनम् ?) अतो ज्ञानयोग्यतैवेह प्रद्योतनमन्यापेक्षयेति । तदेवं स्तवेष्वपि एवमेव वाचकप्रवृत्तिरिति स्थितम् । एतेन 'स्तवेऽपुष्कलशब्दः प्रत्यवायाय' इति प्रत्युक्तं, तत्त्वेनेदृशस्यापुष्कलत्वायोगात् । इति लोकप्रद्योतकराः १४ ।

(पं०–) अत एवाह 'अतो'=भावसाधनप्रद्योतासम्भवादचेतनेषु धर्म्मास्तिकायादिषु, 'ज्ञानयोग्यतैव'=श्रुतज्ञानलक्षणज्ञातृव्यापाररूपं ज्ञानं प्रति विषयभावपरिणतिरेव, 'इह'=अचेतनेषु, 'प्रद्योतनं' =प्रकाशः, 'अन्यापेक्षया'=तत्स्वरूपप्रकाशकमाप्तवचनमपेक्ष्येति । यथा किल प्रदीपप्रभादिकं प्रकाशकमपेक्ष्य चक्षुष्मतो द्रष्टुर्घटादेर्दृश्यस्य दर्शनविषयभावपरिणतिरेव प्रकाशः, तथेहापि योज्यमिति, न तु श्रुतावरणक्षयोपशमलक्षण इति । 'एतेने'ति, एतेन=लोकोत्तमादिपदपञ्चकेन, 'अपुष्कलशब्द' इति=सम्पूर्णलोकरूढस्वार्थानभिधायकः, 'तत्त्वेने'त्यादि, तत्त्वेन=वास्तवीं स्तवनीय(प्र० स्तवन)वृत्तिमाश्रित्य, ईदृशस्य= विभागेन प्रवृत्तस्य लोकशब्दस्य, सम्पूर्णस्वार्थानभिधानेऽपि, 'अपुष्कलत्वायोगात्'=न्यूनत्वाघटनात् । लोकरूढस्वार्थापेक्षया तु युज्येताप्यपुष्कलत्वमिति तत्त्वग्रहणम् ।

(ल०–) एवं च लोकोत्तमतया लोकनाथभावतो लोकहितत्वसिद्धेर्लोकप्रदीपभावात् लोकप्रद्योतकरत्वेन परार्थकरणात्, स्तोतव्यसम्पद एव सामान्येनोपयोगसम्पदिति । ४ ।

१५. अभयदयाणं (अभयदेभ्यः)

(ल०–भगवद्बहुमानादेव अभयादिसिद्धिः –) साम्प्रतं भवनिर्वेदद्वारेणार्थतो भगवद्बहुमानादेव विशिष्टकर्म्मक्षयोपशमभावादभयादिधर्मसिद्धेः, तद्व्यतिरेकेण नैःश्रेयसधर्म्मासम्भवाद्, भगवन्त एव तथा तथा सत्त्व(प्र० सर्व) कल्याणहेतवः इति प्रतिपादयन्नाह 'अभयदयाण'–मित्यादिसूत्रपञ्चकम् ।

(पं०–) 'भवनिर्वेदमि'त्यादि, भवनिर्वेदः=संसारोद्वेगो, यथा,

'कायः संनिहितापायः सम्पदः पदमापदाम् । समागमाः सापगमाः, सर्व्वमुत्पादिभङ्गुरम् ॥'

एवंचिन्तालक्षणं, स एव 'द्वारम्'=उपायस्तेन, भगवन्त एव तथा तथा सत्त्वकल्याणहेतव इत्युत्तरेण सम्बन्धः। कथमित्याह 'अर्थतः'=तत्त्ववृत्त्या, 'भगवद्बहुमानादेव'=अर्हत्पक्षपातादेव, भवनिर्वेदस्यैव भगवद्बहुमानत्वात्, ततः किमित्याह 'विशिष्टकर्म्मक्षयोपशमभावाद्'=विशिष्टस्य मिथ्यात्वमोहादेः कर्मणः क्षयोपशमः उक्तरूपस्तद्भावात्। ततोऽपि किमित्याह 'अभयादिधर्म्मसिद्धेः'=अभयचक्षुर्मार्गशरणादिधर्म्मभावात्। व्यतिरेकमाह 'तद्व्यतिरेकेण'=अभयादिधर्म्मसिद्ध्यभावेन, 'नैःश्रेयसधर्म्मासम्भवात्'=निःश्रेयसफलानां सम्यग्दर्शनादिधर्म्माणामघटनात्। 'भगवन्त एव' अर्हल्लक्षणाः, 'तथा तथा'=अभयदानादिप्रकारेण, 'सत्त्वकल्याणहेतवः'=सम्यक्त्वादिकुशलपरंपराकारणमिति।

(ल०—अभय=विशिष्टमात्मस्वास्थ्यम्—) इह भयं सप्तधा [१]इह[२]पर[३]लोकाऽऽदाना[४]कस्मादा[५]जीव[६]मरणा[७]श्लाघाभेदेन। एतत्प्रतिपक्षतोऽभयमिति विशिष्टमात्मनः स्वास्थ्यम्, निःश्रेयसधर्म्मभूमिकानिबन्धनभूता धृतिरित्यर्थः।

(पं०)—'इहे'त्यादि 'इह—परलोक—आदान—अकस्माद्—आजीव—मरण—अश्लाघाभेदेन', इहपरलोकादिभिः रूपाधिभिः, 'भेदो'=विशेषः, तेन। तत्र मनुष्यादिकस्य सजातीयादेरन्यस्मान्मनुष्यादेरेव सकाशाद् यद्भयं तदिहलोकभयम्। इहाधिकृतमीतिमतो भावलोक 'इहलोकः', ततो भयमिति व्युत्पत्तिः। तथा विजातीयात्तिर्यग्देवादेः सकाशान्मनुष्यादीनां यद्भयं, तत् परलोकभयम्। आदीयत इति आदानम्; तदर्थं चौरादिभ्यो यद्भयं तदादानभयम्। 'अकस्मादेव' बाह्यनिमित्तानपेक्षं गृहादिष्वेव स्थितस्य रात्र्यादौ भयमकस्माद्भयम्। 'आजीवो'=वर्त्तनोपायस्तस्मिन् अन्येनोपरुध्यमाने भयमाजीवभयम्। मरणभयं प्रतीतम्। 'अश्लाघाभयम्'=अकीर्तिभयम्; 'एवं हि क्रियमाणे महदयशो भवती'ति तद्भयान्न प्रवर्त्तते इति। 'एतत्प्रतिपक्षतः' एतस्य=उक्तभयस्य, प्रतिपक्षतः=परिहारेण, अभयं=भयाभावरूपम्, इति—इत्येवंलक्षणम्। पर्यायतोऽप्याह 'विशिष्टं'=वक्ष्यमाणगुणनिबन्धनत्वेन प्रतिनियतम्, 'आत्मनो' जीवस्य, 'स्वास्थ्यं'—स्वरूपावस्थानं; तात्पर्यतोऽप्याह 'निःश्रेयसधर्म्मभूमिकानिबन्धनभूता धृतिरित्यर्थ' इति, निःश्रेयसाय=मोक्षाय, धर्म्मो निःश्रेयसधर्म्मः सम्यग्दर्शनादि, तस्य भूमिका=बीजभूतो मार्गबहुमानादिर्गुणः, तस्य निबन्धनभूता=कारणभूता, धृतिः=आत्मनः स्वरूपावधारणम्. 'इत्यर्थः,' इति=एषः, अर्थः=परमार्थः।

(ल०—धर्मः चित्तस्वास्थ्यहेतुकः) नह्यस्मिन्नसति यथोदितधर्म्मसिद्धिः, सन्निहितोपद्रवैः प्रकामं चेतसोऽभिभवात्; चेतःस्वास्थ्यसाध्यश्चाधिकृतो धर्म्मः तत्स्वभावत्वात्। विरुद्धश्च भयपरिणामेन, तस्य तथाऽस्वास्थ्यकारित्वात्।

(पं०—) एतदेव भावयति 'न ही'ति 'न'=नैव, 'हि' यस्माद् 'अस्मिन्'—स्वास्थ्ये, 'असति'=अविद्यमाने, 'यथोदितधर्म्मसिद्धिः'=निःश्रेयसधर्म्मनिष्पत्तिः। कुत इत्याह 'सन्निहितभयोपद्रवैः' सन्नि-

हितैः—चेतसि वर्तमानैः. भयान्येवोक्तरूपाणि उपद्रवाः **भयोपद्रवाः**=व्यसनानि तैः, '**भकामम्**' अत्यर्थं, '**चेतसो**' मनसो, '**अभिभवात्**' पीडनात्। अकामग्रहणं च भयोपद्रवाणामान्तरङ्गत्वेनात्यन्तिकाभिभवहेतुत्वख्यापनार्थमिति। यदि नामैवं, ततः किमित्याह '**चेतःस्वास्थ्यसाध्यश्चाधिकृतो धर्म्मः**' चित्तसमाधानहेतुश्चाधिकृतो धर्म्मः सम्यग्दर्शनादिः; कुत इत्याह '**तत्स्वभावत्वात्**'—स्वभावो ह्यसौ धर्म्मस्य यच्चेतःस्वास्थ्यसाध्योऽसाविति। ननु भयपरिणामेऽप्यस्य सम्भवात् कथमभयहेतुकत्वमित्याह '**विरुद्धश्च**'= निराकृतश्च **भयपरिणामेन**, कुत इत्याह '**तस्य**'=भयपरिणामस्य '**तथा**'=धर्म्मसाधकेन चेतःस्वास्थ्येन विरुद्धस्य '**अस्वास्थ्यकारित्वात्**' अस्वास्थ्यस्य विधायकत्वात्।

(ल०—भगवतामभयदत्वे हेतुचतुष्कम्)—**अतोऽस्य गुणप्रकर्षरूपत्वादचिन्त्यशक्तियुक्तत्वात् तथाभावेनावस्थितेः सर्वथापरार्थकरणाद्, भगवद्भ्य एव सिद्धिरिति। तदित्थंभूतमभयं ददतीत्यभयदाः॥ १५॥**

(पं०—) '**अतो**'=निःश्रेयसधर्म्मभूमिकानिबन्धनभूतधृतिरूपत्वाद्, '**अस्य**'=अभयस्य, 'भगवद्भ्य एव सिद्धि'रित्युत्तरेण सम्बन्धः। '**गुणप्रकर्षरूपत्वादि**'त्यादि, अत्र चत्वारः परम्पराफलभूता हेतवो गुणप्रकर्षरूपत्व-अचिन्त्यशक्तियुक्तत्व—तथाभावावस्थितत्व—सर्वथापरार्थकरणलक्षणा, तथाहि—भगवतां गुणप्रकर्षपूर्वकमचिन्त्यशक्तियुक्तत्व, गुणप्रकर्षाभावेऽचिन्त्यशक्तियुक्तत्वाभावात्। अचिन्त्यशक्तियुक्तत्वे च '**तथाभावेन**'=अभयभावेन अवस्थितिः, अचिन्त्यशक्तियुक्तत्वमन्तरेण तथाभावेनावस्थातुमशक्यत्वात्। तथाभावेनावस्थितौ च '**सर्वथा**'= सर्वप्रकारैर्बीजाधानादिभिः '**परार्थकरणं**'=परहितविधानं, स्वयं तथारूपगुणशून्येन परेषु गुणाधानस्याशक्यत्वात्। '**भगवद्भ्य एव,**' न स्वतो, नाप्यन्येभ्यः। '**इति**' एवकारार्थे।

१६. चक्खुदयाणं (चक्षुर्देभ्यः)

(ल०—) **तथा '**चक्खुदयाणं**'। इह चक्षुः चक्षुरिन्द्रियं, तच्च द्विधा, द्रव्यतो भावतश्च। द्रव्येन्द्रियं बाह्यनिर्वृत्तिसाधकतमकरणरूपं 'निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रिय'मिति वचनात्। भावेन्द्रियं तु क्षयोपशम उपयोगश्च, 'लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रिय'मिति वचनात्। (तत्वार्थमहाशास्त्रे अ० २-सूत्र १७, १८)**

(पं०—) चक्षुः '**बाह्यनिर्वृत्ति—साधकतमकरणरूप**'मिति, **बाह्या**=बहिर्वर्त्तिनी, उपलक्षणत्वाच्चास्या अभ्यन्तरा च, **निर्वृत्तिः** वक्ष्यमाणरूपा, **साधकतमं करणं च** उपकरणेन्द्रियं ततस्ते **रूपं** यस्य तत्तथा '**निर्वृत्त्युपकरणे**'त्यादिसूत्रद्वयाभिप्रायोऽयम्,—इहेन्दनादिन्द्रो जीवः, सर्वविषयोपलब्धिभोगलक्षणपरमैश्वर्ययोगात्, तस्य लिङ्गमिन्द्रियं, श्रोत्रादि। तच्चतुर्विधं नामादिभेदात्, तत्र नामस्थापने सुज्ञाने, निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्, लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्। तत्र '**निर्वृत्तिराकारः**' सा च बाह्या अभ्यन्तरा च। तत्र बाह्या अनेकप्रकारा, अभ्यन्तरा पुनः क्रमेण श्रोत्रादीनां कदम्बपुष्प—धान्यमसूर—अतिमुक्तकपुष्पचन्द्रिका—क्षुरप्र ॥नाकारसंस्थाना। उपकरणेन्द्रियं विषयग्रहणे समर्थं, छेद्यच्छेदने खड्गस्येवधारा, यस्मिन्नुपहते निर्वृत्तिसद्भावेऽपि विषयं

न गृह्णातीति। लब्धीन्द्रियं यस्तदावरणक्षयोपशमः, उपयोगेन्द्रियं यः स्वविषये ज्ञानव्यापार इति।

(ल०—अत्र चक्षुः किम्? :—) तदत्र चक्षुः विशिष्टमेवात्मधर्म्मरूपं तत्त्वावबोधनिबन्धनश्रद्धास्वभावं गृह्यते; श्रद्धाविहीनस्याचक्षुष्मत इव रूपमिव तत्त्वदर्शनायोगात्। न चेयं मार्गानुसारिणी सुखमवाप्यते।

(पं०—) 'तद्' इत्यादि,—यत इन्द्रियत्वेन सामान्यत इत्थं चक्षुः, 'तत्'=तस्माद् 'अत्र=सूत्रे, 'चक्षुर्विशिष्टमेव' न सामान्यम्, 'आत्मधर्म्मरूपम्'=उपयोगविशेषतया जीवस्वभावभूतं, विशेष्यमेवाह 'तत्त्वावबोधनिबन्धनं'=जीवादिपदार्थप्रतीतिकारणं, या 'श्रद्धा'=रुचिः धर्म्मप्रशंसादिरूपा, सा 'स्वभावो'=लक्षणं, यस्य तत्तथा, 'गृह्यते'=अङ्गीक्रियते। ननु ज्ञानावरणादिक्षयोपशम एव चक्षुष्टया वक्तुं युक्तः, तस्यैव दर्शनहेतुत्वात्, न तु मिथ्यात्वमोहक्षयोपशमसाध्या तत्त्वरुचिरूपा श्रद्धेत्याशङ्क्याह 'श्रद्धाविहीनस्य'=तत्त्वरुचिरहितस्य, अचक्षुष्मत इव'=अन्धस्येव, 'रूपमिव'=नीलादिवर्ण इव, यत् 'तत्त्वं' जीवादि लक्षणं, तस्य 'दर्शनम्'=अवलोकनं, तस्य 'अयोगात्'=अनुपपत्तेः। भवत्वेव, तथाप्यसावन्यहेतुसाध्या स्याद्, न भगवत्प्रसादसाध्येत्याह 'न च'=नैव, 'इयं'=तत्त्वरुचिरूपा श्रद्धा, 'मार्गं'= सम्यग्दर्शनादिकं मुक्तिपथम् अनुकूलतया, 'सरति'=गच्छतीत्येवंशीला, 'मार्गानुसारिणी' 'सुखम्'=अपरिक्लेशं यथाकथञ्चिदित्यर्थः 'अवाप्यते'।

(ल०—) सत्यां चास्यां भवत्येतन्नियोगतः कल्याणचक्षुषीव सद्रूपदर्शनम्। न ह्यत्र प्रतिबन्धो नियमेन ऋते कालादिति निपुणसमयविदः। अयं चाप्रतिबन्ध एव, तथातद्भवनोपयोगित्वात्, तमन्तरेण तत्सिद्ध्यसिद्धेः, विशिष्टोपादानहेतोरेव तथापरिणतिस्वभावत्वात्।

(पं०—) भवतु भगवत्प्रसादसाध्येयं, परं स्वसाध्यं प्रति न नियतो हेतुभावोऽस्याः स्यादित्याह 'सत्यां च' =विद्यमानायां च, 'अस्याम्'=उक्तरूपश्रद्धायां, 'भवति'=जायते, 'एतत्'=तत्त्वदर्शनं, 'नियोगतः'=अवश्यंभावेन। निदर्शनमाह 'कल्याणचक्षुषीव'=निरुपहतायामिव दृष्टौ, सद्रूपदर्शनं', सतः=सद्भूतस्य, रूपस्य, दर्शनम्= अवलोकनं, न तु काचकामलाद्युपहत इव चक्षुषि अन्यथेति। एतदेव भावयति 'न हि'=नैव, 'अत्र'=मार्गानुसारिश्रद्धासाध्यदर्शने, 'प्रतिबन्धो'=विष्कम्भो, 'नियमेन'=अवश्यंभावेन, कुतश्चिदिति गम्यते। किं सर्वथा? नेत्याह, 'ऋते'=विना, 'कालात्,' काल एव ह्यत्र प्रतिबन्धक इति भावः। 'इति'=एवं, 'निपुणसमयविदो' निश्चयनयव्यवहारिणो ब्रुवते। ननु कालेऽपि प्रतिबन्धके कथमुच्यते 'न ह्यत्र प्रतिबन्धो नियमेने'त्याह 'अयं च' =कालप्रतिबन्धः (च) 'अप्रतिबंध एव'। कुत इत्याह 'तथेति' दर्शनरूपतया तस्याः =श्रद्धायाः, भवनं=परिणमनं, तद्भवनं, तत्र 'उपयोगित्वात्'=व्यापारवत्त्वात् कालस्य। व्यतिरेकमाह 'तम्'=कालम्, 'अन्तरेण'=विना, 'तत्सिद्ध्यसिद्धेः'=तस्य दर्शनस्य स्वभावलाभानिष्पत्तेः। कुत इत्याह 'विशिष्टस्य=विचित्रसहकारिकारणाहितस्वभावातिशयस्य, 'उपादानहेतोरेव'=परिणामिकारणस्यैव, 'तथापरिणतिस्वभावत्वात्' तथापरिणतिः= कार्याभिमुखपरिणतिः (व्यपरिणामः), सैव स्वभावो अस्य कालस्य तत्तथा, तद्भावस्तत्त्वं, तस्माद्द्रव्यपर्यायत्वात्कालस्य।

(ल०-) तदेषाऽवन्ध्यबीजभूता धर्मकल्पद्रुमस्येति परिभावनीयम्। इयं चेह चक्षुरिन्द्रियं चोक्तवद् भगवद्भ्य इति चक्षुर्ददतीति चक्षुर्दाः ॥ १६ ॥

(पं०)-'उक्तवदि'ति=श्रावसूत्राभिहिताभयधर्मवत्।

१७. मग्गदयाणं (मार्गदेभ्यः)

(ल०मार्गस्वरूपम्) तथा मग्गदयाणं। इह मार्गो चेतसोऽवक्रगमनं, भुजङ्गमगमननलिकायामतुल्यो विशिष्टगुणस्थानावाप्तिप्रगुणः स्वरसवाही क्षयोपशमविशेषः। हेतु-स्वरूप-फलशुद्धा सुखेत्यर्थः।

(पं०) 'मग्गदयाणं,' 'मार्गो' इहेत्यादि, इह=सूत्रे, मार्गः=पन्थाः, स किंलक्षण इत्याह 'चेतसो'=मनसो, 'अवक्रगमनं'=अकुटिला प्रवृत्तिः, कीदृश इत्याह 'भुजङ्गमस्य'=सर्पस्य, 'गमननलिका' शुषिरवंशादिलक्षणा ययाऽसावन्तःप्रविष्टो गन्तुं शक्नोति, तस्य 'आयामो'=दैर्ध्यं, तेन तुल्यः क्षयोपशमविशेष इतियोगः। किंभूत इत्याह 'विशिष्टगुणस्थानावाप्तिप्रगुण' इति=वक्ष्यमाणविशिष्टगुणलाभहेतुः 'स्वरसवाही' =निजाभिलाषप्रवृत्तः 'क्षयोपशमो'=दुःखहेतुदर्शनमोहादिक्षयविशेष, तथाहि, यथा भुजङ्गमस्य नलिकान्तः-प्रविष्टस्य (प्र०....प्रवृत्तस्य) गमनेऽवक्र एव नलिकाऽऽयामः समीहितस्थानावाप्तिहेतुः, वक्रे तत्र गन्तुमशक्त(प्रत्य० .मशक्य)त्वाद्, एवमसावपि मिथ्यात्वमोहनीयादिक्षयोपशमश्चेतस इति। तात्पर्यमाह 'हेतु-स्वरूप-फलशुद्धा,' हेतुना=पूर्वोदितधृतिश्रद्धालक्षणेन, 'स्वरूपेण' स्वगतेनैव, फलेन=विविदिषादिना, शुद्धा =निर्दोषा, सुखा=उपशम सुखरूपासुखासिकेत्यर्थः। एष मार्गस्वरूपनिश्चयः।

(ल०-)नास्मिन्नान्तरेऽसति यथोदितगुणस्थानावाप्तिः; मार्गविषमतया चेतःस्खलनेन प्रतिबन्धोपपत्तेः। सानुबन्धक्षयोपशमतो यथोदितगुणस्थानावाप्तिः, अन्यथा तदयोगात्।

(प०) व्यतिरेकतो भावयन्नाह 'न'=नैव, 'अस्मिन्'=क्षयोपशमरूपे मार्गे, 'आन्तरे'-अन्तरङ्गहेतौ, 'असति'=अविद्यमाने, बहिरङ्गगुर्वादिसहकारिसद्भावेऽपि, 'यथोदितगुणस्थानावाप्तिः'=सम्यग्दर्शनादिगुणलाभः। कुत इत्याह'मार्गविषमतया'=क्षयोपशमविसंस्थुलतया, 'चेतःस्खलनेन'=मनोव्याघातेन, 'प्रतिबन्धोपपत्तेः'=यथोदितगुणस्थानावाप्तेर्विष्कम्भसम्भवात्। कुतः ? यतः 'सानुबन्धक्षयोपशमात्'=उत्तरोत्तरानुबन्धप्रधान (प्र० प्रभूत) क्षयोपशमाद् 'गुणस्थानावाप्तिः' पूर्वोक्ता जायत इति। व्यतिरेकमाह 'अन्यथा' =सानुबन्धक्षयोपशमाभावे, 'तदयोगात्'=यथोदितगुणस्थानावाप्तेरभावात्।

(ल०-) क्लिष्टदुःखस्य तत्र तत्त्वतो बाधकत्वात् 'सानुबन्धं क्लिष्टमेतत्' इति तन्त्रगर्भः, तद्बाधितास्यास्य तथागमनाभावाद्, भूयस्तदनुभवोपपत्तेः।

(प०-) कुत इत्याह 'क्लिष्टदुःखस्य'-क्लिष्टं दुःखयतीति दुःखं कर्म, ततः क्लिष्टकर्मणः, 'तत्र'= निरनुबन्धक्षयोपशमे, 'तत्त्वतः'=अन्तरङ्गवृत्त्या, 'बाधकत्वात्' प्रकृतगुणस्थानस्येति। क्लिष्टस्वरूपमेव व्याचष्टे 'सानुबन्धं'=परम्परानुबन्धवत्, 'क्लिष्टं'-क्लेशकारि, 'एतत्' कर्म; न पुनस्तत्कालमेव परमक्लेशकार्यपि

स्कन्दकाचार्यशिष्यकर्म्मवद्, महावीरकर्म्मवद् वा, 'इति तन्त्रगर्भः'=एष प्रवचनपरमार्थः। कुत एतदित्याह 'तद्बाधितस्य'=क्लिष्टकर्म्माभिभूतस्य,'अस्य'—चेतसः, 'तथागमनाभावात्'—अवक्रतया विशिष्टगुणस्थानगमनाभावात्। कुत इत्याह 'भूयः'=पुनः, 'तदनुभवोपपत्तेः' तस्य=क्लिष्टदुःखस्य अनुभव एवोपपत्तिस्तस्याः। अवश्यमनुभवनीये हि तत्र कथमवक्रं चित्तगमनं स्यादिति भावः।

(ल०—) **न चासौ तथातिसंक्लिष्टस्तत्प्राप्ताविति प्रवचनपरमगुह्यम्। न खलु भिन्नग्रन्थेर्भूयस्तद्बन्ध इति तन्त्रयुक्त्युपपत्तेः। एवमन्यनिवृत्तिगमनेन** (पंजिका पाठः 'अनिवृत्तिगमनेन') **अस्य भेदः।**

(पं०—) ननु सम्यग्दर्शनात्प्रागपि कस्यचिन्मिथ्यात्वगमनाद् कथमत्र क्लिष्टदुःखाभाव इत्याह '**न च**'—नैव, '**असौ**'—प्रकृतजीवः, '**तथा**'=प्रागिव, '**अतिसंक्लिष्टः**'—अतीवसानुबन्धक्लेशवान्, '**तत्प्राप्तौ**' मार्गप्राप्तौ, '**इति**'=एतत् '**प्रवचनपरमगुह्यं**'—शासनहृदयम्। अत्र हेतुः '**न खलु**'—नैव, '**भिन्नग्रन्थेः**'=सम्यक्त्ववतो,'**भूयः**'—पुनः'**तद्बन्धो**'=ग्रन्थिबन्धः,'**इति**'=एवं,'**तन्त्रयुक्त्युपपत्तेः**'=पुनस्तद्बन्धेन न व्यवलीयते कदाचिदित्यादिशास्त्रीययुक्तियोगात्। ततः किं सिद्धमित्याह '**एवं**'=सानुबन्धतया, '**अनिवृत्तिगमनेन**'—अनिवृत्तिकरणप्राप्त्या, '**अस्य**'—मार्गरूपक्षयोपशमस्य, '**भेदो**'=विशेषः, शेषक्षयोपशमेभ्यः।

(ल०—योगदर्शने अभयादिसमाः प्रवृत्त्यादयः) **सिद्धं चैतत्प्रवृत्त्यादिशब्दवाच्यतया योगाचार्याणां, 'प्रवृत्ति—पराक्रम-जया-ऽऽनन्द-ऋतम्भरभेदः कार्ययोग' इत्यादिविचित्रवचनश्रवणादिति। न चेदं यथोदितमार्गाभावे; स चोक्तवद् भगवद्भ्य, इति मार्गं ददतीति मार्गदाः।१७।**

(पं०—) परतन्त्रेणापीदं साधयन्नाह '**सिद्धं च**'=प्रतीतं च, '**एतत्**'—सानुबन्धक्षयोपशमवतो ग्रन्थिभेदादिलक्षणं वस्तु। '**प्रवृत्तिपराक्रमजयानन्दऋतम्भरभेदः कार्ययोग**', '**प्रवृति**'—परमयथाप्रवृत्तकरणशुद्धिलक्षणा, प्रकृतो मार्ग इत्यर्थः, **पराक्रमेण**—वीर्यविशेषवृद्ध्या अपूर्वकरणेनेत्यर्थः, '**जयो**'=विघ्नकाभिभवो, विघ्नजयोऽनिवृत्तिकरणमित्यर्थः, '**आनन्द**'—सम्यग्दर्शनलाभरूपः, 'तमोग्रन्थिभेदादानन्दः' इतिवक्ष्यमाणवचनात्, '**ऋतम्भर**'=सम्यग्दर्शनपूर्वको देवतापूजनादिर्व्यापारः, ऋतस्य=सत्यस्य भरणात्, ततश्च ते प्रवृत्त्यादयो भेदा यस्य स तथा, '**कार्ययोगः**'क्रियालक्षणः, कर्म्मग्रहणं इच्छालक्षणस्य प्रणिधानयोगस्य व्यवच्छेदार्थम्। सामान्येन ह्यन्यत्र योगः पञ्चधा, यदुक्तं '**प्रणिधि-प्रवृत्ति- विघ्नजय-सिद्धि-विनियोगभेदतः प्रायः। धर्म्मज्ञैराख्यातः शुभाशयः पञ्चधात्र विधौ ॥१॥**' (षोडशके ३—६) शुभाशयश्च योगः, 'इत्यादि'इति, आदिशब्दादीच्छायोगादिवचनग्रहः।

१८ सरणदयाणं (शरणदेभ्यः)

(ल०— शरणं=तत्त्वचिन्ता, विविदिषा) **तथा 'सरणदयाणं'। इह शरणं भयार्त्तत्राणं, तच्च संसारकान्तारगतानां अतिप्रबलरागादिपीडितानां दुःखपरम्परासंक्लेशविक्षोभितः समास्वा(श्वा)-सनस्थानकल्पं, तत्त्वचिन्तारूपमध्यवसानं, विविदिषेत्यर्थः।**

(पं०) 'दुःखपरम्परासंक्लेशविक्षोभतः' इति, दुःखपरम्पराया· नरकादिभवरूपायाः, संक्लेशस्य च क्रोधादिलक्षणस्य, विक्षोभत'—स्वरूपह्रासलक्षणचलनादिति ।

(ल०—८ प्रज्ञागुणाः—) सत्यां चास्यां तत्त्वगोचराः शुश्रूषा—श्रवण—ग्रहण—धारणा—विज्ञान-ऊहा-ऽपोह तत्त्वाभिनिवेशाः प्रज्ञागुणाः ।

(पं०—) 'शुश्रूषे'त्यादि,—'शुश्रूषा,'=श्रोतुमिच्छा, 'श्रवणं'=श्रोत्रोपयोग', 'ग्रहणं' शास्त्रार्थमात्रोपादानं, 'धारणम्'=अविस्मरणं, मोहसन्देहविपर्ययव्युदासेन ज्ञानं=विज्ञानं, विज्ञातमर्थमवलम्ब्यान्येषु व्याप्त्या तथाविधवितर्कणम्='ऊहः,' उक्तियुक्तिभ्या विरुद्धादर्थात्प्रत्यपायसम्भावनया व्यावर्त्तनम्='अपोह' । अथवा सामान्य ज्ञानम् 'ऊहो,' विशेषज्ञानम् 'अपोहः' । विज्ञानोहापोहानुगमविशुद्धम् इदमित्थमेवेतिनिश्चय.='तत्त्वाभिनिवेशः' । पश्चात्पदाष्टकस्य द्वन्द्वः समासः । 'प्रज्ञागुणाः' बुद्धेरुपकारिण इत्यर्थ' ।

(ल० आभासतो बुद्धिगुणवैशिष्ट्यं—) प्रतिगुणमनन्तपापपरमाण्वपगमेनैते इति समयवृद्धाः, तदन्येभ्यस्तत्त्वज्ञानायोगात्, तदाभासतयैतेषां भिन्नजातीयत्वात्, बाह्याकृतिसाम्येऽपि फलभेदोपपत्तेः ।

(पं०—) किंविशिष्टा इत्याह 'प्रतिगुणम्'=एकैकं शुश्रूषादिक गुणमपेक्ष्योत्तरोत्तरतो 'अनन्तपापपरमाण्वपगमेन' 'अनन्तानाम्'=अतिबहूना, 'पापपरमाणूनां' ज्ञानावरणादिक्लिष्टकर्मांशलक्षणानाम्, 'अपगमेन'=प्रलयेन, 'एते'=तत्त्वगोचरा शुश्रूषादय , 'इति' एतत्, 'समयवृद्धाः'—बहुश्रुताः ब्रुवते । कुत एतद् इत्याह 'तदन्येभ्यः'=उक्तविलक्षणहेतुप्रभवेभ्य., 'तत्त्वज्ञानायोगाद्'=भवनैर्गुण्यादिपरमार्थापरिज्ञानात् । एतदपि कुत इत्याह 'तदाभासतया' तत्त्वगोचरशुश्रूषादिसदृशतया, 'एतेषां'=प्रतिगुणमनन्तपापपरमाण्वपगममन्तरेण जाताना, 'भिन्नजातीयत्वाद्'=अन्यजातिस्वभावत्वात् (प्रत्य० . जातिभवत्वात्) । नन्वाकारसमतायामपि कुत एतदित्याह 'बाह्याकृतिसाम्येऽपि'—तत्त्वगोचराणामितरेषां च शुश्रूषादिनां 'फलभेदोपपत्तेः,' फलस्य=भवानुरागस्य तद्विरागस्य च यो भेदः—आत्यन्तिकं वैलक्षण्य स एव उपपत्ति'=युक्तिः, तस्याः । कथं नाम एकस्वभावेषु द्वयेष्वपि शुश्रूषादिषु बहिराकारसमतायामित्थं फलभेदो युज्यत इति भावः ।

(ल० गुणाभासकारणानि) संभवन्ति तु वस्त्वन्तरोपायतया तद्विविदिषामन्तरेण, न पुनः स्वार्थसाधकत्वेन भावसाराः, अन्येषां प्रबोधविप्रकर्षेण प्रबलमोहनिद्रोपेतत्वात् ।

उक्तं चैतदन्यैरप्यध्यात्मचिन्तकैः; यदाहावधूताचार्यः " नाभव्यथानुग्रहमन्तरेण तत्त्वशुश्रूषादयः, उदकपयोमृतकल्पज्ञानाजनकत्वात् । लोकसिद्धास्तु, सुप्तनृपाख्यानकगोचरा इवान्यार्था एवे"ति । विषयतृडपहार्येव हि ज्ञानं विशिष्टकर्मक्षयोपशमजं, नान्यद्, अभक्ष्यास्पर्शनीयन्यायेनाज्ञानत्वात् । न चेदं यथोदितशरणाभावे । तच्च पूर्ववद् भगवद्भ्य इति शरणं ददतीतिशरणदाः ॥१८॥

(पं०—) तर्हि न संभविष्यन्त्येव तत्त्वगोचरतामन्तरेण शुश्रूषादय इत्याशङ्क्याह 'संभवन्ति तु'—न

न संभवन्ति, 'तु' पूर्वेभ्य एषां विशेषणार्थः । तदेव दर्शयति 'वस्त्वन्तरोपायतया' वस्त्वन्तरं=तत्त्वविविदिषापेक्षया पूजाभिलाषादि, तद् उपायः=कारणं येषां ते तथा, तद्भावस्तत्ता, तया । अत एवाह 'तद्विविदिषामन्तरेण'=तत्त्वजिज्ञासां विना, व्यवच्छेद्यमाह 'न पुनः'=न तु, 'स्वार्थसाधकत्वेन' 'भावसाराः' =परमार्थरूपा । ननु कथं न स्वार्थसाधका एते ? इत्याह 'अन्येषां'–वस्त्वन्तरोपायतया प्रवृत्तानां 'प्रबोधविप्रकर्षेण'=तत्त्वपरिज्ञानदूरभावेन हेतुना, 'प्रबलमोहनिद्रोपेतत्वाद्'=बलिष्ठमिथ्यात्वमोहस्वापावष्टब्धत्वात् ।

परमतेनाप्येतत्समर्थयन्नाह, 'उक्तं च'=निरूपितं च, 'एतत्,'=तदन्येभ्यस्तत्त्वज्ञानभावलक्षणं वस्तु, 'अन्यैरपि'=अस्मदपेक्षया भिन्नजातीयैरपि, किं पुनरस्माभिः, कैरित्याह 'अध्यात्मचिन्तकैः'=आत्मतत्त्वप्रेक्षकैः, कुत इत्याह 'यद्'=यस्मात्कारणाद् 'आह'=उक्तवान्, 'अवधूताचार्यो' योगिमार्गप्रणायकः, उक्तमेव दर्शयति 'न'=नैव, 'अभयत्ययानुग्रहं'=सदाशिवकृतोपकारम्, 'अन्तरेण'=विना, 'तत्त्वशुश्रूषादयः' उक्तरूपा । कुत इत्याह 'उदकपयोमृतकल्पज्ञानाजनकत्वात्;' उदकं–जलं, पयः=क्षीरं, अमृतं=सुधा, तत्कल्पानि, विषयतृष्णापहारित्वेन श्रुतचिन्ताभावनारूपाणि ज्ञानानि तदजनकत्वात् । तत्त्वगोचरा एव हि शुश्रूषादयो मृदुमध्याधिकमात्रावस्था एवंरूपज्ञानजनका इति । स एव इतरानवजानन्नाह 'लोकसिद्धास्तु' =सामान्येन लोकप्रतिष्ठिताः, तुः=पुनः शुश्रूषादयः, 'सुप्तनृपाख्यानगोचरा इव' यथा सुप्तस्य=शय्यागतस्य नृपस्य–राज्ञो, निद्रालाभार्थम् 'आख्यानविषया' शुश्रूषादयोऽन्यार्था एव भवन्ति, न त्वाख्यानपरिज्ञानार्थाः । 'इति' अवधूताचार्योक्तिसमाप्त्यर्थः । सर्वतात्पर्यमाह 'विषयतृडपहार्येव हि ज्ञानम्'=विपाकारविषयाभिलाषनिवर्त्तकमेव, हिः=यस्मात्कारणात्, ज्ञानं=तत्त्वबोधः, कीदृगित्याह 'विशिष्टकर्मक्षयोपशमजं'= विशिष्टात् मिथ्यात्वमोहविषयात् क्षयोपशमाज्जातम् । अनभिमतप्रतिषेधमाह 'न'=नैव, 'अन्यद्'=विषयतृष्णानपहारि ज्ञानमिति मन्यते । कुत इत्याह 'अभक्ष्यास्पर्शनीयन्यायेन' प्राग्व्याख्यातेन, 'अज्ञानत्वात्'= तत्त्वप्रिरायां ज्ञानाभावरूपत्वात् । यदि नामैवं ततः किमित्याह 'न च'=नैव, 'इदं'–ज्ञानं 'यथोदितशरणभावे'=प्रागुदितविविदिषाविरहलक्षणे । एवमपि किमित्याह 'तच्च'=शरणं, 'पूर्व्ववद्'–अभयादिधर्म्मवद्, 'भावदूस्य' इति ॥ १८ ॥

१९ बोहिदयाणं (बोधिदेभ्यः)

(ल०–) तथा 'बोहिदयाणं' । इह बोधिः=जिनप्रणीतधर्मप्राप्तिः । इयं पुनर्यथाप्रवृत्तापूर्वाऽनिवृत्तिकरणत्रयव्यापारतोऽभिव्यक्तमभिन्नपूर्वग्रन्थिभेदतः पश्चानुपूर्व्या प्रशम संवेग–निर्वेदा–ऽनुकम्पा–ऽऽस्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं; विज्ञप्तिरित्यर्थः । पञ्चकमप्येतदपुनर्बन्धकस्य यथोदितस्य, अस्य पुनर्बन्धके स्वरूपेणाभावात् । इतरेतरफलमेतदिति नियमः, अनीदृशस्य तत्त्वायोगात् । न ह्यचक्षुष्फलमभयं, चक्षुर्वाऽमार्गफलम्, इत्यादि ।

(पं०–) बोहिदयाणं । 'पञ्चकमपि'=अभयचक्षुरादिरूपम् (अपि), आस्तां प्रस्तुता बोधिः, 'एतद्' अनन्तरोदितम् 'अपुनर्बन्धकस्य' उक्तलक्षणस्य, कुत इत्याह 'यथोदितस्य'=उक्तनिर्वचनस्य, 'अस्य'=पञ्च-

कस्य, 'पुनर्बन्धके'=अपुनर्बन्धकविलक्षणे, 'स्वरूपेण'—स्वस्वभावेन, 'अभावात्'। अस्यैव हेतोः सिद्ध्यर्थमाह 'इतरेतरफलं' इतरस्य=पूर्वपूर्वस्य, 'इतरद्'=उत्तरोत्तरं, 'फलं'—कार्यं, 'एतत्'=पञ्चकम्, 'इति'=एषः, 'नियमो'—व्यवस्था। कुत एतदित्याह 'अनीदृशस्य'=इतरेतराफलस्य पञ्चकस्य, 'तत्त्वायोगात्,' तत्त्वस्य=अभयादिभावस्य, 'अयोगाद्'=अघटनात्। एतदेव भावयति 'न हि'=नैव, 'अचक्षुष्फलं'=नास्ति चक्षुः फलमस्य तत्तथा, 'अभयं' 'चक्षुर्वा' उक्तरूपम्, 'अमार्गफलं'=मार्गलक्षणफलरहितमिति 'आदि' शब्दान्मार्गोऽशरणफलं शरणं चाबोधिफलमिति।

(ल०—आभासरूप—अभयादि—) एवं चोत्कृष्टस्थितेराग्रन्थिप्राप्तिमेते भवन्तोऽप्यसकृन्न तद्रूपतामासादयन्ति, विवक्षितफलयोग्यतावैकल्यात्।

(पं०—) यदि नामैवं ततः किम्? इत्याह 'एवं च'=इतरेतरफलतायां च सत्याम् 'उत्कृष्टस्थितेः' मिथ्यात्वादिगतायाः, 'आ'=इति प्रारभ्य, 'ग्रन्थिप्राप्ति'=समयसिद्धग्रन्थिस्थानं यावद्, 'एते'=अभयादयो, 'भवन्तोऽपि'=जायमाना अपि, 'असकृद्'=अनेकशः, 'न'=नैव, 'तद्रूपतां'=भावरूपामभयादिरूपताम्, 'आसादयन्ति'=लभन्ते, कुत इत्याह 'विवक्षितफलयोग्यतावैकल्यात्,' विवक्षितं फलमभयस्य चक्षुः, चक्षुषो मार्ग', इत्यादिरूपं, तज्जननस्वभावाभावात्।

(ल०—वास्तवाभयादियोग्यतास्वरूपम्—) योग्यता चाफलप्राप्तेस्तथाक्षयोपशमवृद्धिः, लोकोत्तरभावामृतास्वादरूपा, वैमुख्यकारिणी विषयविषाभिलाषस्य। न चेयमपुनर्बन्धकमन्तरेणेति भावनीयम्।

(पं०—) योग्यतामेवाह 'योग्यता च'=प्रागुपन्यस्ता अभयादीनाम् 'आफलप्राप्ते'—चक्षुरादिफलप्राप्तिं यावत्, 'तथा'=फलानुकूला, 'क्षयोपशमवृद्धिः'—स्वावारककर्मक्षयविशेषवृद्धिः 'लोकोत्तरभावामृतास्वादरूपा' लोकोत्तरभावा विहितौदार्य्यदाक्षिण्यादयः, त एव अमृतं—सुधा, तदास्वादरूपा; अत एव 'वैमुख्यकारिणी'=विमुखताहेतुः, 'विषयविषाभिलाषस्य'=विषाकारविषयवाञ्छारूपस्येति। ततः किमित्याह 'न च'=नैव, 'इयम्'=उक्तरूपा क्षयोपशमवृद्धिः, 'अपुनर्बन्धकं,' 'पापं न तीव्रभावात् करोती'-त्यादि लक्षणम्, 'अन्तरेण'=विना, अन्यस्य भवबहुमानित्वात्, ततः किमित्याह 'इति'—एतद्, 'भावनीयं' यदुत पञ्चकमप्येतदपुनर्बन्धकस्येति हेतुं, स्वरूपं, फलं चापेक्ष्य विचारणीयम्।

(ल०—गोपेन्द्रपरिव्राजक—प्रमाणम्)—इष्यते चैतदपरैरपि मुमुक्षुभिः, यथोक्तं भगवद्गोपेन्द्रेण 'निवृत्ताधिकारायां प्रकृतौ धृतिः, श्रद्धा, सुखा, विविदिषा, विज्ञप्तिरिति तत्त्वधर्म्मयोनयः; नानिवृत्ताधिकारायां, भवन्तीनामपि तद्रूपतायोगाद्' इति। विज्ञप्तिश्च बोधिः प्रशमादिलक्षणाभेदात्। एतत्प्राप्तिश्च यथोक्तप्रपञ्चतो भगवद्भ्य एवेति बोधिं ददतीति बोधिदाः ॥ १९ ॥

एवमभयदान चक्षुर्दान—मार्गदान—शरणदान बोधिदानेभ्य एव यथोदितोपयोगसिद्धेरुपयोगसम्पद एव हेतुसम्पदिति। (५. संपत)

(पं०—) परमत-संवादेनाप्याह 'इष्यते च' 'एतद्'=अभयादिकम्, 'अपरैरपि'=जैनव्यतिरिक्तैः (अपि) 'मुमुक्षुभि' कथमित्याह 'यथोक्तं'=यस्मादुक्तं, 'भगवद्गोपेन्द्रेण'=भगवता परिव्राजकेन गोपेन्द्रनाम्ना, उक्तमेव दर्शयति 'निवृत्ताधिकारायां'=व्यावृत्तपुरुषाभिभवलक्षणस्वव्यापारायां, 'प्रकृतौ' सत्त्वरजस्तमोलक्षणाया, ज्ञानावरणादिकर्म्मणीत्यर्थ, 'धृति—श्रद्धा—सुखा—विविदिषा—विज्ञप्तिरित्येता' यथाक्रममभयाद्यपरनामान 'तत्त्वधर्म्मयोनय'=पारमार्थिककुशलोत्पत्तिस्थानानि, भवन्तीति। व्यवच्छेद्यमाह 'नानिवृत्ताधिकारायां' प्रकृताविति गम्यते, कुत इत्याह 'भवन्तीनामपि' धृत्यादिधर्म्मयोनीना, कुतोऽपि हेतोः प्रकृतेरनिवृत्ताधिकारत्वेन, 'तद्रूपताऽयोगात्'=तात्त्विकधृत्यादिस्वभावाभावाद्, 'इतिः' परोक्तसमाप्त्यर्थ। एवमपि किमित्याह 'विज्ञप्तिश्च' पञ्चमी धर्म्मयोनि 'बोधि'=जिनोक्तधर्म्मप्राप्ति, कुत इत्याह 'प्रशमादिलक्षणाभेदात्'=प्रशमसंवेगादिभ्यो लक्षणेभ्योऽभेदाद् अव्यतिरेकाद्विज्ञप्तेः।

२० धम्मदयाणं (धर्मदेभ्यः)

(ल०—विशेषोपयोगसंपत्—) सद्देशनायोग्यताविधाय्यनुग्रहसम्पादनादिना तात्त्विकधर्म्मदातृत्वादिप्रकारेण परमशास्तृत्वसम्पत्समन्विता भगवन्त इति न्यायतः प्रतिपादयन्नाह 'धम्मदयाण'मित्यादिसूत्रपञ्चकम्।

(पं०—) सद्देशनेत्यादि,' इदमत्र हृदयम्—सद्देशनाया योग्यताया विधायिनो 'अनुग्रहस्य' स्वविषये बहुमानलक्षणस्य प्राक् सम्पादनेन, 'आदि' शब्दात् तदनु सद्देशनया, यत् तात्त्विकधर्म्मस्य दातृत्वम्, 'आदि'शब्दात् परिपालन, तेन, परमया=भावरूपया, शास्तृत्वसम्पदा धर्म्मचक्रवर्त्तित्वरूपया, समन्विता' =सङ्गता युक्ता भगवन्त इति।

(ल०—धर्मो द्विविधचारित्रधर्म'—)इह धर्मश्चारित्रधर्म्मः परिगृह्यते; स च श्रावकसाधुधर्म्मभेदेन द्विधा। श्रावकधर्म्मोऽणुव्रताद्युपासकप्रतिमागतक्रियासाध्यः साधुधर्माभिलाषातिशयरूपः आत्मपरिणामः; साधुधर्म्मः पुनः सामायिकादिगतविशुद्धक्रियाभिव्यङ्ग्यः सकलसत्त्वहिताशयामृतलक्षणः स्वपरिणाम एव, क्षायोपशमिकादिभावस्वरूपत्वाद्धर्मस्य।

(ल०—कथं भगवदनुग्रहः ?—) नायं भगवदनुग्रहमन्तरेण, विचित्रहेतुप्रभवत्वेऽपि महानुभावतयाऽस्यैव प्राधान्यात्। भवत्येतदासन्नस्य भगवति बहुमानः, ततो हि सद्देशनायोग्यता, ततः पुनरयं नियोगतः; इत्युभयतत्स्वभावतया तदाधिपत्यसिद्धेः। कारणे कार्योपचाराद् धर्म्मं ददतीति धर्मदाः ॥ २० ॥

(पं०—) यथाक्रमं सूत्रपञ्चकेन प्रतिपादयन्नाह 'नायमित्यादि' न=नैव, अयम्=उक्तरूपो धर्म्मो भगवदनुग्रहं सहकारिणम्, अन्तरेण=विना। कुत इत्याह 'विचित्रहेतुप्रभवत्वेऽपि' विचित्रा—स्वयोग्यतागुरुयोगादयो हेतव', प्रभवो=जन्मस्थान, यस्य तद्भावस्तत्त्वं, तस्मिन्नपि धर्म्मस्य, 'महानुभावतया'= अचिन्त्यशक्तितया, 'अस्यैव'=भगवदनुग्रहस्य (एव), हेतुषु 'प्राधान्यात्' =ज्येष्ठतया। तदेव भावयति

'भवत्येव'=न न भवति। 'एतदासन्नस्य'=धर्म्मासन्नस्य, 'भगवति'=परमगुरौ. 'बहुमानो' भवनिर्वेदरूप' 'ततो'=भगवद्बहुमानात्, 'हिः'-स्फुट, 'सद्देशनायोग्यता' सद्देशनायाः वक्ष्यमाणरूपाया', योग्यता= उचितत्वम् । 'ततः=सद्देशनायोग्यतायाः', 'पुनर्', 'अयं'=धर्म्मो. 'नियोगत '=अवश्यतया । 'इति'=एवं, परम्परया 'उभयतत्स्वभावतया' उभयस्य भगवद्बहुमान-प्रकृतधर्म्मलक्षणस्य, तत्स्वभावतया=कार्यकारणस्वभावतया.'त.ाधिपत्यसिद्धेः'=तस्य भगवद्बहुमानस्य महानुभावतयाऽधिकृतधर्म्महेतुपु प्रधानभावसिद्धेः, 'कारणे'=सद्देशनायोग्यतायां, 'कार्यस्य'=धर्म्मस्य, 'उपचाराद्'=अध्यारोपाद् 'धर्म्मं ददतीति धर्म्मदाः'।

२१. धम्मदेसयाणं (धर्मदेशकेभ्यः)

(ल०-धर्मोपदेशे संसारस्वरूपम्-) तथा 'धम्मदेसयाणं' तत्र 'धर्मः' प्रस्तुत एव, तं यथाभव्यमिदधति; तद्यथा,-प्रदीप्तगृहोदरकल्पोऽयं भवो, निवासः शारीरादिदुःखानां, न युक्तः इह विदुषः प्रमाद', यत' अतिदुर्लभेयं मानुषावस्था, प्रधानं परलोकसाधनं, परिणामकटवो विषयाः, विप्रयोगान्तानि सत्सङ्गतानि, पातभयातुरमविज्ञातपातमायु' । तदेवं व्यवस्थिते विध्यापनेऽस्य यतितव्यं ।

(ल०-धर्मस्वरूपम्-)एतच्च सिद्धान्तवासनासारो धर्म्ममेघो यदि परं विध्यापयति । अतः स्वीकर्तव्यः सिद्धान्त.-सम्यक् सेवितव्यास्तदभिज्ञाः-भावनीयं 'मुण्डमालालुका'ज्ञातं-त्यक्तव्या खल्वसदपेक्षा-भवितव्यमाज्ञाप्रधानेन-उपादेयं प्रणिधानं-पोषणीयं साधुसेवया धर्म्मशरीरं-रक्षणीयं प्रवचनमालिन्यम् ।

(पं०-) 'मुण्डमालालुकाज्ञातम्' इति, मुण्डमाला=शिरःस्रग्, आलुका=मृण्मयी वार्धटिका, ते एव ज्ञातं=दृष्टान्तो,-यथा,

अनित्यताकृतबुद्धिर्म्लानमाल्यो न शोचते। नित्यताकृतबुद्धिस्तु भग्नभाण्डोऽपि शोचते ॥ १ ॥

(ल०-) एतच्च विधिप्रवृत्तः सम्पादयति, अतः सर्वत्र विधिना प्रवर्त्तितव्यं,-सूत्राद् ज्ञातव्य आत्मभावः,-प्रवृत्तावपेक्षितव्यानि निमित्तानि, यतितव्यमसंपन्नयोगेषु,-लक्षयितव्या विस्रो (प्र० श्रो)तसिका,-प्रतिविधेयमनागतमस्या भयशरणाद्युदाहरणेन ।

(प०-) 'सूत्रे' इत्यादि, सूत्राद्=रक्त(प्र० अरक्त)द्विष्टादिलक्षणनिरूपकादागमात् 'ज्ञातव्यो'= बोद्धव्य , आत्मभावः=रागादिरूप आत्मपरिणामो, यथोक्तं, 'भावणसुयपाढो तित्थसवणमसइ (प्र० सेवणसमय) तयत्थजाणंमि । तत्तो य आयपेहणमइनिउणं दोस (प्र० निउणगुणदोस) विक्खाए' इति 'निमित्तानी'ति इष्टानिष्टसूचकानि शकुनादीनि सहकारिकारणानि वा । 'भयशरणाद्युदाहरणेने'ति 'सरणं भए उवाओ, रोगे किरिया, विसम्मि (प्र०-वसणंमि) मंतोत्ति' इत्युदाहरणम् ॥

(ल०) भवत्येवं सोपक्रमकर्म्मनाशः, निरुपक्रमकर्म्मानुबन्धव्यवच्छित्तिः-इत्येवं धर्म्मं देशयन्तीति धर्मदेशकाः । २१

२२ धम्मनायगाणं (धर्मनायकेभ्यः)

(ल०) तथा 'धम्मनायगाणं'। इह धर्मः अधिकृत एव, तस्य स्वामिनः, तल्लक्षणयोगेन। तद्यथा, (१) तद्वशीकरणभावात् (२) तदुत्तमावाप्तेः, (३) तत्फलपरिभोगात् (४) तद्विघातानुपपत्तेः। तथाहि,

(पं०—) धर्मस्य नायकत्वे भगवतां साध्ये तद्वशीकरणादयश्चत्वारो मूलहेतवः प्रत्येकस्वप्रतिष्ठापकैः समावनिकैश्चान्यैश्चतुर्भिरेवहेतुभिरनुगता व्याख्येयाः। तत्र तद्वशीकरणभावस्य मूलहेतोः (१) विधिसमासादनं, (२) निरतिचारपालनं, (३) यथोचितदान, (४) तत्रापेक्षाभावश्च, एते समावनिकाश्चत्वारः प्रतिहेतव। द्वितीयस्य च तदुत्तमावाप्तिरूपस्य (१) प्रधानक्षायिकधर्म्मावाप्तिः, (२) परार्थसम्पादन, (३) हीनेऽपि प्रवृत्तिः, (४) तथाभव्यत्वयोगश्चेत्येवंलक्षणाः। तृतीयस्य पुनस्तत्फलपरिभोगलक्षणस्य (१) सकल (प्र० सफल) सौन्दर्यं (२) प्रातिहार्ययोग, (३) उदारर्द्ध्यनुभूति, (४) तदाधिपत्यभावश्चेत्येवंरूपा। चतुर्थस्य तु तद्विघातानुपपत्तिरूपस्य (१) अवन्ध्यपुण्यवीजत्वं, (२) अधिकानुपपत्तिः, (३) पापक्षयभावो, (४) अहेतुकविघातासिद्धिश्चेत्येवंस्वभावा समावनिकाश्चत्वार एव प्रतिहेतवः। एते भावनाग्रन्थेनैव व्याख्याता इति न पुनः प्रयासः। पर,

(ल०— धर्मवशीकरणहेतवः—) एतद्वशिनो भगवन्तः (१) विधिसमासादनेन, विधिनावाप्तो भगवद्भिः; तथा (२) निरतिचारपालनतया, पालितश्चातिचारविरहेण; एवं (३) यथोचितदानतः, दत्तश्च यथाभव्यं, तथा (४) तत्रापेक्षाऽभावेन, नामीषां दाने वचनापेक्षा। १।

(पं०—) 'एतद्वशिन' इति, एष =अधिकृतो धर्म्मो, वशीः=वश्यो, येषां ते एतद्वशिन इति। 'विधिसमासादनेने'ति, विधिसमासादितो ह्यर्थोऽव्यभिचारितया वश्यो भवति, न्यायोपात्तवित्तवद्। 'तत्रे'ति =दाने, 'वचनापेक्षे'ति, न हि भगवन्तो धर्म्मदाने अन्यमुनय इव पराज्ञामपेक्षन्ते, 'क्षमाश्रमणानां हस्तेन सम्यक्त्वसामायिकमारोपयामी'त्याद्यनुच्चारणात्।

(ल०—श्रेष्ठधर्मप्राप्तिहेतवः) एवं च तदुत्तमावाप्तयश्च भगवन्तः प्रधानक्षायिकधर्मावाप्त्या, (१) तीर्थकरत्वात् प्रधानोऽयं भगवतां; तथा (२) परार्थसंपादनेन सत्त्वार्थकरणशीलतया; एवं (३) हीनेऽपि प्रवृत्तेः, अश्वबोधाय गमनाऽऽकर्णनात्; तथा (४) तथाभव्यत्वयोगात्, अत्युदारमेतदेतेषाम्। २।

(पं०) 'अश्वबोधाय गमनाऽऽकर्णनादि'ति, अश्वस्य=तुरङ्गमस्य, बोधाय=सम्बोधाय, भगवतः श्रीमतो मुनिसुव्रतस्वामिनो भृगुकच्छे गमनश्रवणात्। तथाहि,

(अश्वबोधकथाः—)

किल भगवान् भुवनजनानन्दनो द्विपद्दुःसहप्रतापपरिभूतसमस्तामित्रसुमित्राभिधानभूपालकुलकमलखण्डमण्डनोऽमलराजहंसो भुवनत्रयाभिनन्दितपद्मापदपद्मावतीदेवीदिव्योदरशुक्तिमुक्ताफलाकारः श्रीमुनिसुव्रत-

तीर्थनाथो मगधमण्डलमण्डनराजगृहपुरपरिपालितप्राज्यराज्यः सारस्वतादिवृन्दारकवृन्दाभिनन्दितदीक्षावसरस्तत्कालमिलितसमस्तवासवविसरविरचितोदारपूजोपचारश्चारकाकारससारनिस्सरणसज्ञां (प्र०... निःसारसज्यां) प्रव्रज्यां जग्राह, तदनु पवनवदप्रतिबद्धतया निजचरण(प्र० चलन)कमलपांशुपातपूतं भूतलं कुर्वन् कियन्तमपि कालं छद्मस्थतया विहृत्य निशातशुक्लध्यानकुठारधाराव्यापारविलूनदुरन्तमोहतरुमूलजालः सकलकालभाविभावस्वभावावभासनपटिष्ठं केवलज्ञानमुत्पादयामास। समुत्पन्नज्ञानं च भगवन्तमासनचलनानन्तरं विज्ञाय भक्तिभरनिर्भरा निखिलसुरपतयो विहितसमवसरणादिरमणीयसपर्या पर्यायेण यथास्थानमुपविश्य भगवन्तं पर्युपासयामासु', भगवांश्च सनीरनीरद इव भव्यजन्तुसन्तानशिखिमण्डलोल्लासनस्वभावो भासुराभिनवाञ्जनपुञ्जसङ्काशकायः कषायग्रीष्मसमयसततप्राणिसंतापापनोददक्षो विक्षिप्तान्धकारभाभण्डलतडिल्लताऽलङ्कृतः स्फुरद्धर्म्मचक्रकान्तिकलापोत्पादितनभोभूषणाऽऽखण्डलकोदण्डाडम्बरः सौधर्म्मेशानसुरपतिपाणिपल्लवप्रेर्यमाणधवलचामरोपनिपातप्राप्तबलाकापङ्क्तिप्रभवशोभः सकलसत्त्वसाधारणाभिः सद्धर्म्मदेशनानीरधाराभि' स्वस्थीचकार निःशेषप्राणीहृदयभूप्रदेशानिति। ततः प्रवृत्ते तीर्थेऽन्यदा भानुमानिव भगवान् प्रबोधयन् भव्यपद्माकरान् दक्षिणापथमुखमण्डनं जगाम भृगुकच्छा (प्र०.. .भरुकच्छा)भिधाननगरमिति; समवससार च तत्र पूर्वोत्तरदिग्भागभाजि कोरिण्टकनामन्युद्याने। अत्रान्तरे निशम्य निजपरिजनाद् जिनागमनम्, आनन्दनिर्भरमानसः समारुह्य जात्यतुरङ्गमनुगम्यमानो मनुजव्रजेनाजगाम जगद्गुरुचरणारविन्दवन्दनाय तन्नगरनायको जितशत्रुनामा नरपतिः,प्रणिपत्य सकलकमलानिकेतनं जिनपतिपदकमलमुपविष्टो घटितकरकुड्मलो भगवच्चरणमूले, समाकर्णितवान् कर्णामृतभूतां भगवद्देशनाम्। तदनु जानन्नपि जनबोधनाय विनयपूर्वं प्रणम्य पप्रच्छ परमगुरुं गणधरो, यथा—'भगवन्नमुष्यां मनुष्यामरतिर्यक्कुलसङ्कुलायां (प्र० . विसंकुलायां) पर्षदि कियद्भिर्भव्यजन्तुभिरपूर्वैरभ्युपगतं सम्यक्त्वं, परीत्तः (प्र० . परीत') कृतः ससारसागरः, पात्रीकृतो निर्वृतिसुखानामात्मेति?' तत कुन्दकान्तदन्तदीप्तिभिरुद्योतयन्नभोऽङ्गणं जगाद जगन्नाथो, यथा—'सौम्य! समाकर्णय न केनचित् तुरङ्गरत्नमपहायापरेणेति।' तत. श्रुत्वा सर्वज्ञवचनमवोचज्जितशत्रुभूपति'—'भगवन्! कौतुकाकुलित(प्र० . कलित)चित्तो जिज्ञासामि तुरगवृत्तान्तमहम्। अन्यच्च—भगवन्नहमस्मिन्नश्वरत्ने समारुह्य चलितस्ते चलननलिनमभिवन्दितुम्। विलोक्य त्रिलोकीतिलकतुल्यं समवसरणमवतीर्णस्तुरङ्गमात् प्रवृत्तः पद्भ्यामेवागन्तुम्, तावत्सकलजन्तुजातचित्तानन्ददायिनीं सजलजलदनादगम्भीरां गम्भीरभवपाथोधि(प्र पयोधि)पोतोपमां समाकर्ण्य भगवद्देशनामानन्दपय प्लावितपवित्रनेत्रपात्रो निश्चलीकृतकर्णयुगल' समुल्लसितरोमकूपो मुकुलिताक्ष. क्षणमात्रमवस्थितोऽसावश्वः। तदनु पुनर्द्धर्मश्रवणविश्राणितश्रवणोपयोग' समागत समवसरणतोरणान्तिकं, तत्र चापूर्वप्रमोदरसमनुभवन् भूमिन्यस्तजानुयुगलो गलन्निखिलकलिमलः(प्र . कलमलः) कथयन्निव निजमानसविशदवासनां शिरसाऽभिवन्द्य भगवन्तं तथास्थित एवासितुमारब्धवान्, ततस्तदेवंविधमश्वविलसितं विलोक्य विस्मितोऽहं कदाचिददृष्टपूर्वाश्चर्यपूर्यमाणमानस. समागतो भगवत्समीपमिति। तत कथयतु मथितमिथ्यात्वो भगवान् किमेतदिति'। भगवता भणित—'सौम्य! समाकर्णय रामस्ति समस्तमेदिनीपद्मासद्मभूतं पद्मिनिखेट नामनगरं, तत्राभ्यस्तजिनधर्म्मो जिन-

धर्म्मनामधेयः श्रेष्ठश्री(प्र....श्रेष्ठःश्री)सञ्चयसमाश्रयः श्रेष्ठी वसति स्म, तथाऽपरः सागरदत्ताभिधानः प्रभूत-धननिधानं निखिलजनप्रधान जिनधर्म्मश्रावकपरममित्रं दीनानाथादिदयादानपरायणस्तस्मिन्नेव पुरे श्रेष्ठी तिष्ठति स्म; स च प्रतिदिनं जिनधर्म्मश्रावकसमेतो याति जिनालयं, पर्युपास्ते पञ्चप्रकाराचारधारिणः श्रमणान् । अन्यदा तच्चरणान्तिके धर्म्ममाकर्णयन्निमां गाथामाकर्णयाञ्चकार, यथा—"जो कारवेइ पडिमं, जिणाण जियरागदोसमोहाणं। सो पावइ अन्नभवे भवमहण धम्मवररयण ॥ १ ॥" अवगतश्चानेनास्या भावार्थो भवितव्यतानियोगतः, समारोपितश्चेतसि, गृहीतः परमार्थबुद्धया, निवेदितः स्वाभिप्राय. श्रावकाय, कृता तेनापि तदभिप्रायपुष्टिः । तदनु कारितवानसौ सकलकल्याणकारिणीं कल्याणमयीं जिनपतिप्रतिमां, प्रतिष्ठापयामास स महता विभवेन । तेन च सागरदत्तश्रेष्ठिना पूर्वमेव नगरवहिष्कारितं रुद्रायतनम् । अन्यदा तत्र पवित्रकारोपणदिने जटाधारिणः प्रव्रजिता' पशुपतिलिङ्गपूरणनिमित्तं मठप्रकृतयो मठेभ्यो घृतादिपूर्णकुम्भान्निष्कासयामासुः, तदधोभागे च भूयस्यो घृतपिपीलिका' पिण्डीभूता भूतवत्यः; तेषु च निष्कास्यमानेषु भूतले ता निपेतुः; ते च ताः पथि पतिताः निर्दयतया मर्दयन्त सञ्चरन्ति स्म । सोऽपि करुणार्द्रचेतास्तास्तच्चरणचूर्यमाणा वस्त्रप्रान्तेनोत्सारयाञ्चकार, तं चोत्सारयन्तं दृष्ट्वा एकेन जटाधारिणा धर्म्ममत्सरिणा घृतपिपीलिकापुञ्ज पादेनाक्रम्योपहसितः सागरदत्त' श्रेष्ठी—'अहो श्रेष्ठिन् श्वेताम्बर इव दया(प्र. ..जीवदया)पर' संवृत्तोऽसि ।' ततोऽसौ वणिक् विलक्षीभूत किमयमेवमाहेत्यभिधाय तदाचार्यमुखमवालोकत । तेनापि तद्वचनमपाकर्णितम । ततश्चिन्तित चतुरचेतसा सागरदत्तेन 7 खल्वमीषां मूर्खचक्रवर्त्तिनां मनसि जीवदया, न प्रशस्ता चेतोवृत्तिः, नापि सुन्दरं धर्मानुष्ठानमिति परिभाव्योपरोधविहिततत्कार्यो विशिष्टवीर्यविरहादनुपार्जितसम्यक्त्वरत्न प्रवर्तितमहारम्भ' समुपार्जितवित्तरक्षणाक्षणिको गृहपुत्रकलत्रादिकृतममत्व प्रकृत्यैव दानरुचि प्रचुरद्रविणवाञ्छया 'कदा व्रजति सार्थ' ? क्व किं क्रयाणकं क्रीणाति लोकः ? कस्मिन्मण्डले कियती भूमिः ? क क्रयविक्रयकालः ? किं वा वस्तु प्राचुर्येणोपयुज्यते ?' इत्याद्यहर्निश चिन्तयन्नुपार्जितनिर्यग्गतियोग्यकर्म्मा मृत्वा समुत्पन्नस्तव तुरङ्गतया, स्थापितः(च) स्ववाहनतया । अद्य तु मदीयवचनमाकर्ण्य पूर्वजन्मनिर्म्मापितार्हत्प्रतिमाप्रभावप्राप्तान्ध्यवोधिवीजोद्भेदादवाप्तं सम्यक्त्व, भाजनीकृत' खल्वात्मा शिवसुखानामिति । एतत्सम्बोधनार्थं चाहमत्रागतवानिति च भगवानुवाचेति । तत प्रभृति चाश्वावबोध इति नाम तीर्थं भृगु(प्र.. भरु)कच्छ रूढमिति ॥

(ल०—धर्मफलपरिभोगे हेतुचतुष्टयम्—) एवं तत्फलपरिभोगयुक्ताः (१) सकलसौन्दर्येण निरुपमं रूपादि भगवतां; तथा (२) प्रातिहार्ययोगात् नान्येषामेतत्; एवं (३) उदारर्द्ध्यनुभूतेः; समग्रपुण्यसम्भारजेयं, तथा (४) तदाधिपत्यतो भावात्, न देवानां स्वातन्त्र्येण ।

(पं—)'तदाधिपत्यतो भावान्न देवानां स्वातन्त्र्येणे'ति, भगवत्स्वेवाधिपतिषु इयमुदारर्द्धिरुत्पद्यते, न देवेषु कर्तृष्वपि ।

(ल०—)धर्मविघातानुपपत्तिहेतुचतुष्टयम्—) एवं तद्विघातरहिताः (१) अवन्ध्यपुण्यवीजत्वात्, एतेषां स्वाश्रय (प्र० स्वाशय) पुष्टमेतत्; तथा, (२) अधिकानुपपत्तेः नातोऽधिकं पुण्यं;

एवं, (३) पापक्षयभावात्, निर्दग्धमेतत्; तथा (४) अहेतुकविघातासिद्धेः, सदासत्त्वादिभावेन। एवं धर्म्मस्य नायका धर्म्मनायका इति। २२

(पं०–)'अधिकानुपपत्ते'रिति,–अधिकपुण्यसम्भवे हीनतरद्धिहन्यते (प्र० ,, हि इतरद्धिहन्यते प्र० हि–इतरर्द्धिर्हन्यते)। 'सदासत्त्वादिभावेने'ति,–'नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षणात्। अपेक्षातो हि भावाना कादाचित्कत्वसंभवः ॥१॥' इति। अत्र 'तथा' शब्दा 'एवं' शब्दाश्चानन्तरहेतुना उत्तरहेतोस्तुल्यसाध्यसूचनार्था.।

२३- धम्मसारहीणं (धर्मसारथिभ्यः)

(ल०–धर्मसारथित्वहेतवः–) तथा, 'धम्मसारहीणं'। इहापि धर्मोऽधिकृत एव, तस्य स्वपरापेक्षया सम्यक्प्रवर्त्तन–पालन–दमनयोगतः सारथित्वम्।–

(पं०–) धर्म्म०४। 'इहापी'त्यादि=इहापि, न केवलं पूर्वसूत्रे। 'धर्मो,'='अधिकृत एव' चारित्रधर्म इत्यर्थ.। 'तस्य,' रथस्येव, 'स्वपरापेक्षया' स्वस्मिन्परस्मिश्चेत्यर्थ·। 'प्रवर्तन–पालन–दमनयोगतः' हेतुत्रितयतया साधयिष्यमाणात्, 'सारथित्वं'=रथप्रवर्त्तकत्वम्।

(ल०–धर्मप्रवर्तनेन कथं सारथित्वम्ः–) तद्यथा, सम्यक्प्रवर्त्तनयोगेन, परिपाकापेक्षणात्, प्रवर्त्तकज्ञानसिद्धेः, अपुनर्बन्धकत्वात्, प्रकृत्याभिमुख्योपपत्तेः।

(पं०–) तदेव 'तद्यथा' इत्यादिना भावयति, तत् सारथित्व यथा भवति तथा प्रतिपाद्यत इत्यर्थ·। 'सम्यक्प्रवर्त्तनयोगेन'=अवन्ध्यमूलारम्भव्यापारेण, धर्म्मसारथित्वमिति सटङ्क·। एषोऽपि कुत इत्याह 'परिपाकापेक्षणात्,' परिपाकस्य=प्रकर्षपर्यन्तलक्षणस्य अपेक्षणात्=साध्यत्वेनाश्रयणात्। एतदपि कुत इत्याह 'प्रवर्त्तकज्ञानसिद्धेः'=अर्थित्वगर्भप्रवृत्तिफलस्य ज्ञानस्य भावात्, प्रदर्शकाद्यन्यज्ञानेन प्रवृत्तेरयोगात्। सापि कथमित्याह 'अपुनर्बन्धकत्वात्'='पाप न तीव्रभावात्करोती'त्यादिलक्षणोऽपुनर्बन्धकस्तद्भावात्। तदपि कथमित्याह 'प्रकृत्याभिमुख्योपपत्तेः' प्रकृत्या=तथाभव्यत्वपरिपाकेन स्वभावभूतया, (आभिमुख्योपपत्तेः=) धर्म्म प्रति प्रशंसादिनानुकूलभावघटनात्।

(ल० सम्यक्प्रवर्त्तनहेतवः–) तथा गाम्भीर्ययोगात्, साधुसहकारिप्राप्तेः, अनुबन्धप्रधानत्वाद्, अतीचारभीरुत्वोपपत्तेः।

(प०) 'तथा' शब्द· सम्यक्प्रवर्त्तनयोगस्यैव प्रथमहेतोः सिद्धये परस्परापेक्षवक्ष्यमाणहेत्वन्तरचतुष्टयसमुच्चयार्थ·। ततो 'गाम्भीर्ययोगा'च्च सम्यक्प्रवर्त्तनयोगो, गाम्भीर्यं चास्याचिन्त्यत्रिभुवनातिशायिकल्याणहेतुशक्तिसपन्नता। एतदपि कुत इत्याह 'साधुसहकारिप्राप्तेः'=फलाव्यभिचारिचारुगुर्वादिसहकारिलाभात्। इयमपि कथमित्याह–'अनुबन्धप्रधानत्वात्' निरनुबन्धस्योक्तसहकारिप्राप्त्यभावात्। तदपि कथमित्याह– 'अतिचारभीरुत्वोपपत्तेः' अतिचारोपहतस्यानुबन्धाभावात्।

(ल०–पालनदमनयोः सिद्धिः–) एतेन पालनाऽयोगः प्रत्युक्तः सम्यक्प्रवर्त्तनस्य निर्वे-

हणफलत्वात्। नान्यथा सम्यक्त्वमिति समयविदः। एवं दमनयोगेन। दान्तो ह्येवं धर्मैः कर्मवशितया कृतोऽव्यभिचारी अनिवर्त्तकभावेन नियुक्तः स्वकार्ये स्वाङ्गोपचयकारितयानीतः स्वात्मीभावं, तत्प्रकर्षस्यात्मरूपत्वेन।

(पं०–) इत्थं प्रथमहेतुसिद्धिमभिधाय द्वितीयसिद्ध्यर्थमाह–'एतेन'=सम्यक्प्रवर्त्तनयोगसाधनेन, किमित्याह 'पालनाऽयोगः'=पालनस्यायोगः अघटन, 'प्रत्युक्तो'=निराकृत'। कुत इत्याह 'सम्यक्प्रवर्त्तनस्य'=उक्तरूपस्य, 'निर्वहणफलत्वात्'=पालनफलत्वात्। अथ कथमयं नियमो यदुत पालनफलमेव सम्यक्प्रवर्त्तनमित्याह 'न'=नैव, 'अन्यथा'=पालनाऽभावे, 'सम्यक्त्वं'=सम्यग्भाव' प्रवर्तनस्य, 'इति'=एवं, 'समयविदः'=प्रवचनवेदिनो वदन्ति। अथ तृतीयहेतुसिद्धिमाह 'एवमिति'=यथा सम्यक्प्रवर्त्तनपालनाख्यहेतुद्वयाद्धर्म्मसारथित्व तथा दमनयोगेनापीत्यर्थो, 'दमनयोगेन'=सर्वथा स्वायत्तीकरणेन। अमुमेव साधयन्नाह 'दान्तो'=वशीकृतो 'हि'=स्फुटम्, 'एवं'=वक्ष्यमाणेन अव्यभिचारीकरण–स्वकार्य्यनियोग–स्वात्मीभावनयनरूपप्रकारत्रयेण, 'धर्मैः', कयेत्याह 'कर्मवशितया', कर्माणि–चारित्रमोहादि, वशि=वश्यम् अबाधकत्वेन, येषां ते तथा, तद्भावस्तत्ता, तया। तदेव प्रकारत्रयमाह 'कृतो'=विहितः, 'अव्यभिचारी'=अविसंवादक'। कथमित्याह 'अनिवर्त्तकभावेन'=आफलप्राप्तेरनुपरमस्वभावेन, 'नियुक्तो'=व्यापारितः, 'स्वकार्ये' कृत्स्नकर्म्मक्षयलक्षणे, कयेत्याह 'स्वाङ्गोपचयकारितया' स्वाङ्गानां'=मनुजत्वार्यदेशोत्पन्नत्वादीनामविकृतधर्म्मलाभहेतूनाम्, उपचयः=प्रकर्षः, तत्कारितया, 'नीतः'=प्रापितः 'स्वात्मीभावं' निजस्वभावरूपं, कथमित्याह 'तत्प्रकर्षस्य'=धर्म्मप्रकर्षस्य, यथाख्यातचारित्रतया, 'आत्मरूपत्वेन'=जीवस्वभावत्वेन, इति।

(ल०–)भावधर्म्माप्तौ हि भवत्येवैतदेवं, तदाद्यस्थानस्याप्येवंप्रवृत्तेरवन्ध्यबीजत्वात्। सुसंवृतकाञ्चनरत्नकरण्डकप्राप्तितुल्या हि प्रथमधर्म्मस्थानप्राप्तिरित्यन्यैरप्यभ्युपगमात्। तदेवं धर्म्मस्य सारथयो धर्मसारथयः। २३।

(पं०–)आह–इत्थं धर्म्मसारथित्वभवने को हेतुरित्याह–'भावधर्म्माप्तौ'=क्षायोपशमिकादिधर्म्मलाभे, 'हिः'–स्फुटं, 'भवत्येव'=न न भवति, 'एतत्'=धर्म्मसारथित्वं, 'एवं'=सम्यक्प्रवर्तनयोगादिप्रकारेण। कुत इत्याह 'तदाद्यस्थानस्यापि'=धर्म्मप्रशंसादिकालभाविनो धर्म्मविशेषस्यापि, किं पुनर्बोधेः प्राप्तौ, 'एवंप्रवृत्तेः' धर्म्मसारथी (प्र०. थित्व) करणेन भगवतां प्रवृत्ते', कुत इत्याह 'अवन्ध्यबीजत्वात्'–अनुपहतशक्तिकारणत्वाद्धर्मसारथित्वं प्रति। न हि सर्वथा कारणेऽसत्कार्यमुत्पद्यत इति वस्तुव्यवस्था। परमतेनापि समर्थयन्नाह, 'सुसंवृते'त्यादि, सुसंवृतः=सर्वथानुद्घाटित काञ्चनस्य रत्नानां च य' 'करण्डको'=भाजनविशेष', तत्प्राप्तितुल्या, 'हिः'=यस्मात् 'प्रथमधर्मस्थानप्राप्तिः'–धर्म्मप्रशंसादिरूपा। यथा हि कश्चित्कचिदनुद्घाटितं काञ्चनरत्नकरण्डकमवाप्नुवंस्तदन्तर्गतं काञ्चनादि वस्तु विशेषतोऽनवबुध्यमानोऽपि लभते, एव भगवन्तोऽपि प्रथमधर्म्मस्थानावाप्तौ मोक्षावसाना कल्याणसम्पदं तदनवबोधेऽपि लभन्ते एव, तदवन्ध्यहेतुकत्वात् तस्या'। 'इति'=इत्येवम्, 'अन्यैरपि'=बौद्धैरभ्युपगमात्।

२४. धम्मवरचाउरन्तचक्कवट्टीणं (धर्मवरचातुरन्तचक्रवर्तिभ्यः)

(ल०—धर्मो वरचक्रं कथम् ?) तथा, 'धम्मवरचाउरन्तचक्कवट्टीणं'। धर्मोऽधिकृत एव। वरं प्रधान, चतुरन्तहेतुत्वात् चतुरन्तं, चक्रमिव चक्र, तेन वर्त्तितुं शीलं येषां ते तथाविधाः। इदमत्र हृदयम्,—यथोदितधर्म एव वर=प्रधानं, चक्रवर्त्तिचक्रापेक्षया लोकद्वयोपकारित्वेन, कपिलादिप्रणीतधर्मचक्रापेक्षया वा त्रिकोटिपरिशुद्धतया।

(प०—) 'त्रिकोटिपरिशुद्धतये'ति, तिसृभिरादिमध्यान्ताविसंवादिलक्षणाभिः कषच्छेदतापरूपाभिर्वा 'कोटिभिः'=विभागैः, 'परिशुद्धो'=निर्दोषो यः स तथा तद्भावस्तत्ता तया। कषादिलक्षणं चेदम्—

पाणवहाईयाणं पावट्ठाणाणं जो उ पडिसेहो। झाणज्झयणाईणं, जो उ विही एस धम्मकसो॥
बज्झाणुट्ठाणाणं जेण न वाहिज्जए तयं नियमा। संभवइ य परिशुद्धं सो पुण धम्मंमि छेओ त्ति॥
जीवाऽऽभाववाओ, बंधाइपसाहगो इहं तावो। एएहि सुपरिसुद्धो धम्मो धम्मत्तणमुवेइ॥३॥

(ल०—धर्मचक्रं चतुरन्तं कथम् ?) चत्वारो गतिविशेषाः नारकतिर्यग्नरामरलक्षणाः। तदुच्छेदेन तदन्तहेतुत्वाच्चतुरन्तम् चतुर्भिर्वाऽन्तो यस्मिंस्तच्चतुरन्तं, कैश्चतुर्भिः? दान—शील—तपोभावनाख्यैर्द्धर्मैः, अन्तः प्रक्रमाद् भवान्तोऽभिगृह्यते, चक्रमिव चक्रमतिरौद्रमहामिथ्यात्वादिलक्षणभावशत्रुलवनात्। तथा च लूयन्त एवानेन भावशत्रवो मिथ्यात्वादय इति प्रतीत, दानाद्यभ्यासादाग्रहनिवृत्त्यादिसिद्धेः, महात्मनां स्वानुभवसिद्धमेतत्। (प्र०. महासत्त्वानामनुभवसिद्धमेतत्)

(प०—) 'आग्रहनिवृत्त्यादिसिद्धे'रिति, आग्रहो मूर्च्छा, लुब्धिरिति पर्यायाः, ततो विहितदानशीलतपोभावनाभ्यासपरायणस्य पुंस ,'आग्रहस्य'=मूर्च्छाया, 'निवृत्तिः'=उपरम , 'आदि' शब्दाद् यथासम्भवं शेषदोषनिवृत्तिग्रह', तस्याः सिद्धेः=भावात्।

(ल०) एतेन च वर्त्तन्ते भगवन्तः, तथाभव्यत्वनियोगतो वरबोधिलाभादारभ्य तथा तथौचित्येन आसिद्धिप्राप्तेः एवमेव वर्त्तनादिति। तदेवमेतेन वर्त्तितुं शीला धर्मवरचतुरन्तचक्रवर्तिनः॥ २४॥ एवं धर्मदत्व—धर्मदेशकत्व—धर्मनायकत्व—धर्मसारथित्व—धर्मवरचतुरन्तचक्रवर्तित्वैर्विशेषोपयोगसिद्धेः स्तोतव्यसम्पद एव विशेषेणोपयोगसम्पद इति॥ ६॥

२५. अप्पडिहयवरनाणदंसणधराणं (अप्रतिहतवरज्ञानदर्शनधरेभ्यः)

(ल०—सर्वज्ञतानिषेधकमतनिरासः—) एते च कैश्चिदिष्टतत्त्वदर्शनवादिभिर्बौद्धभेदैरन्यत्र प्रतिहतवरज्ञानदर्शनधरा एवेष्यन्ते 'तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु' इति वचनाद्, एतन्निराचिकीर्षयाह—'अप्रतिहतवरज्ञानदर्शनधरेभ्यः'। अप्रतिहते—सर्वत्राप्रतिस्खलिते क्षायिकत्वाद्, वरे—प्रधाने, 'ज्ञानदर्शने' विशेषसामान्यावबोधरूपे धारयन्तीति समास'; सर्वज्ञानदर्शनस्वभावत्वे निरावरणत्वेन, अन्यथा तत्त्वायोगात्।

(प०) 'तत्त्वमिष्टं तु पश्यत्वि'ति —'सर्वं (प्र०.. दूरं) पश्यतु वा मा वा, तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु।

प्रमाणं दूरदर्शी चेदेते गृध्रानुपास्महे ॥ १ ॥' इति संपूर्णश्लोकपाठः । 'सर्वज्ञाने'त्यादि=सर्वज्ञानदर्शनस्वभावत्वे नयान्तराभिप्रायेण सार्वदिके सर्वज्ञ–सर्वदर्शित्वरूपे सति, 'निरावरणत्वेन'=घातिक्षयात्, अप्रतिहतवरज्ञानदर्शनधरा भगवन्तः । व्यतिरेकमाह 'अन्यथा'=उक्तप्रकारव्यतिरेकेण, 'तत्त्वायोगात्'=अप्रतिहतवरज्ञानदर्शनधरत्वायोगात्; यतो न निरावरणा अपि धर्मास्तिकायादय उक्तरूपविकलाः सन्तः, एकेन्द्रियादयो वा उक्तरूपयोगेऽप्यनिरावरणाः, प्रकृतसूत्रार्थभाज इति ।

(ल०–सर्वज्ञानदर्शनसिद्धिः–) **सर्वज्ञस्वभावत्वं च सामान्येन सर्वावबोधसिद्धेः, विशेषाणामपि ज्ञेयत्वेन ज्ञानगम्यत्वात् । न चैते साक्षात्कारमन्तरेण गम्यन्ते, सामान्यरूपानतिक्रमात् ।**

(पं०–)हेतुविशेषणसिद्ध्यर्थमाह 'सर्वज्ञस्वभावत्वं च'हेतुविशेषणतयोपन्यस्तं, 'सामान्येन' महासामान्यनाम्ना सत्तालक्षणेन, 'सर्वावबोधसिद्धेः', सर्वेषां=धर्मास्तिकायादीनाम्, अवबोधसिद्धेः=परिच्छेदसद्भावात्, एकस्मिन्नपि घटादौ सद्रूपे परिच्छिन्ने तद्रूपानतिक्रमात् शुद्धसङ्ग्रहनयाभिप्रायेण सर्वसतां परिच्छेदः सिध्यति । आह 'सत्तामात्रपरिच्छेदेऽपि विशेषाणामनवबोधात् कथं सर्वावबोधसिद्धि'रित्याशङ्क्याह 'विशेषाणामपि' न केवलं सामान्यस्य, 'ज्ञेयत्वेन'=ज्ञानविषयत्वेन, 'ज्ञानगम्यत्वात्'=ज्ञानेन अवबोधरूपेणावबोधनीयरूपत्वात् । यद्येवं ततः किमित्याह 'न च'=नैव, 'एते'=विशेषाः, 'साक्षात्कार'=दर्शनोपयोगम्, 'अन्तरेण'=विना, तेनासाक्षात्कृता इत्यर्थः, 'गम्यन्ते'=बुध्यन्ते । कथमित्याह 'सामान्यरूपानतिक्रमात्', सामान्यरूपातिक्रमे ह्यसद्रूपतया खरविषाणादिवदसन्त एव विशेषाः स्युरिति । इदमुक्तं भवति,–दर्शनोपयोगेन सामान्यमात्रावबोधेऽपि तत्स्वरूपानतिक्रमात् सङ्ग्रहनयाभिप्रायेण विशेषाणामपि ग्रहणाच्छद्मस्थोऽपि सर्वदा सर्वज्ञस्वभावः स्यात्, घातिकर्मक्षये तु सर्वनयसम्मत्या निरुपचरितैव सर्वज्ञस्वभावता, ज्ञानक्रियायौगपद्यस्यैव मोक्षमार्गतेति । सर्वदर्शनस्वभावता तु सामान्यावबोधत एव सिद्धेति न तन्निर्देशे यत्नः कृत इति ।

(ल०–निखिलावरणक्षयसिद्धिः–) **निरावरणत्वं चावरणक्षयात्, क्षयश्च प्रतिपक्षसेवनया तत्तानवोपलब्धेः, तत्क्षये च सर्वज्ञानं, तत्स्वभावत्वेन । दृश्यते चावरणहानिसमुत्थो ज्ञानातिशयः ।**

(पं०–)इत्थं विशेषणसिद्धिमभिधाय विशेष्यसिद्ध्यर्थमाह '**निरावरणत्वं च**' प्राग् हेतुतयोपन्यस्तम् '**आवरणक्षयात्**', आवरणस्य=ज्ञानावरणादेः, क्षयात=निर्मूलप्रलयात । ननु जीवविभागीभूतस्यावरणस्य क्षय एव दुरुपपादः, इत्याशङ्क्याह '**क्षयश्च**' उक्तरूपः, '**प्रतिपक्षसेवनया**' मिथ्यादर्शनादीनां सामान्यबन्धहेतूनां ज्ञानप्रत्यनीकान्तरायोपघातादीनां, च विशेषहेतूनां, **प्रतिपक्षस्य**=विरोधिनः सम्यग्दर्शनादेर्ज्ञानबहुमानादेश्च **सेवनया**–अभ्यासेन । प्रयोगोऽत्र, यद् यस्य कारणेन सह विरुध्यते तत् तद्विरुध्यमानसेवने क्षीयते, यथा रोमोद्धुषणादिकारणेन शीतेन विरुध्यमानस्याग्नेरासेवने रोमोद्धूषणादिर्विकारः, विरुध्यते चावरणहेतुभिर्मिथ्यादर्शनादिभिः सह सम्यग्दर्शनादिगुणकलाप इति कारणविरुद्धोपलब्धिः । नन्वतीन्द्रियत्वादावरणक्षयस्य कथं तेन हेतोः प्रतिबन्धसिद्धिरित्याशङ्क्याह '**तत्तानवोपलब्धेः**', **तस्य**=आवरणस्य, **तानवं**=तुच्छभावो

देशक्षयलक्षणः प्रकृतयैव (प्र० प्रत्ययेन) प्रतिपक्षसेवनया, तस्योपलब्धेः। स्वानुभवादिसिद्धज्ञानादिवृद्ध्य-न्यथानुपपत्तेः प्रतिबन्धसिद्धिः। न च वक्तव्यं 'प्रतिपक्षसेवनया तानवमात्रोपलब्धेः' कथं सर्वावरणक्षयनिश्चय इति ?' यतो ये यतो देशतः क्षीयमाणा दृश्यन्ते ते ततः प्रकृष्टावस्थात् संभवत्सर्वक्षया अपि, चिकित्सा-समीरणादिभ्य इव रोगजलधरादय इति। एवं च जीवाविभागीभूतस्यापि चिकित्सातो रोगस्येवावरणस्य प्रतिपक्षसेवनया क्षयोऽदुष्ट इति यत्किञ्चिदेतत् यदुतावरणक्षय एव दुरुपपाद इति। अथ प्रकृतसिद्धिमाह 'तत्क्षये च'=आवरणक्षये च, 'सर्वज्ञान'=सर्वज्ञेयाववोध। कुत इत्याह 'तत्स्वभावत्वेन', स्वभावो ह्यसौ जीवस्य यदावरणक्षये सर्वज्ञानम्। एतदेव भावयति 'दृश्यते च'=प्रतीयते चानुभवानुमानादिभिः, 'आवरण-हानिसमुत्थो'=निद्राद्यावरणक्षयविशेषप्रभवो, 'ज्ञानातिशयो'—ज्ञानप्रकर्षः।

(ल०) न चास्य कश्चिदविषय इति स्वार्थानतिलङ्घनमेव। इत्थं चैतद्, अन्यथा अविकलपरार्थसंपादनासम्भवः, तदन्याशयाद्यपरिच्छेदादिति सूक्ष्मधिया भावनीयम्। ज्ञानग्रहणं चादौ सर्वा लब्धयः साकारोपयोगोपयुक्तस्येति ज्ञापनार्थमिति अप्रतिहतवरज्ञानदर्शनधराः॥२५॥

(पं०) ततः किम् ? इत्याह 'न च,' 'अस्य'=ज्ञानातिशयस्य प्रकृष्टरूपस्य, 'कश्चित्' ज्ञेय-विशेष, 'अविषयः'=अगोचरः, सर्वस्य सतो ज्ञेयस्वभावानतिक्रमात्, केवलस्य निरावरणत्वेनाप्रतिस्खलितत्वात्, 'इति'=एवमुक्तयुक्त्या, 'स्वार्थानतिलङ्घनमेव', स्वार्थः प्रकृतसूत्रस्याप्रतिहतवरज्ञानदर्शनधरत्वे, तस्य अनतिलङ्घनमेव=अनतिक्रमणमेव, प्रतिहतवरज्ञानदर्शनधरत्वे हि भगवतां वितथार्थतया सूत्रस्य स्वार्थाति-लङ्घनं प्रसजतीति। 'इत्थं चैतद्,' इत्थमेव=अप्रतिहतवरज्ञानदर्शनप्रकारमेव, एतद्—अर्हल्लक्षणं वस्तु; विपक्षे बाधामाह 'अन्यथा'=उक्तप्रकाराभावे, 'अविकलपरार्थसंपादनाऽसंभव' अविकलस्य=परिपूर्णस्य, परार्थस्य= परोपकारस्य भगवता, (संपादनासंभव=) घटनाऽयोगः, कुत इत्याह 'तदन्याशयाद्यपरिच्छेदात्', तदन्येषां=पुरुषार्थोपयोगीष्टतत्त्वविलक्षणानाम्, आशयादीनाम्=अभिप्रायद्रव्यक्षेत्रकालभावानाम्, अपरि-च्छेदाद्=अनववोधात्, सकलहेयपरिज्ञाने ह्यविकलमुपादेयमवबोद्धुं शक्यं, परस्परापेक्षात्मलाभत्वाद्धेयोपादे-ययो, ह्रस्वदीर्घयोरिव पितृपुत्रयोरिव वेति सर्वमनवबुध्यमानाः कथमिवाविकलं परार्थं संपादयेयुरिति।

२६. वियट्टछउमाणं.

(ल०—आजीविकमतनिरासः छद्म किं ?—) एतेऽप्याजीविकनयमतानुसारिभिर्गोशाल (प्र०—गोशालक) शिष्यैस्तत्त्वतः खल्वव्यावृत्तच्छद्मान एवेष्यन्ते 'तीर्थनिकारदर्शनादागच्छन्ती' ति वचनात्। एतन्निवृत्त्यर्थमाह 'वियट्टच्छउमाणं'—व्यावृत्तच्छद्मभ्यः। छादयतीति छद्म घाति-कर्माभिधीयते ज्ञानावरणादि, तद्बन्धयोग्यतालक्षणश्च भवाधिकार इति, असत्यस्मिन् कार्याभ्यासा-भावात्। अत एवाहुरपरे 'असहजाऽविद्ये'ति (प्र० सहजा विद्येति)। व्यावृत्तं छद्म येषां, ते तथाविधा इति विग्रहः।

(पं०—) 'तद्बन्धे'त्यादि, तस्य=ज्ञानावरणादिकर्मणो, बन्धयोग्यता—कषाययोगप्रवृत्तिरूपा, लक्षणं

—स्वभावो, यस्य स तथा। चकार' समुच्चये भिन्नक्रमश्च। ततो भवाधिकारश्च छद्मकारणत्वाच्छद्मोच्यते। कुत इत्याह 'असती'त्यादि, सुगमं चैतद्। 'अत एव'=भवाधिकाराभाव कर्म्मयोगाभावादेव, 'आहुः'—ब्रुवते, 'अपरे'=तीर्थ्याः, 'असहजा'=जीवेनासहभाविनी, जीवस्वभावो न भवतीत्यर्थः, 'अविद्या'=कर्म्मकृतो बुद्धिविपर्यासः, कर्म्मव्यावृत्तौ तद्व्यावृत्तेः। 'इति'=एव कार्यकारणरूपं, 'व्यावृत्तं छ येषामि'त्यादि सुगमं चैतद्। नवरं,

(ल०—मोक्षान्निवृत्त्यसंभव भव्यानुच्छेदश्च—) नाक्षीणे संसारेऽपवर्गः क्षीणे च जन्मपरिग्रह इत्यसत्, हेत्वभावेन सदा तदापत्तेः। न तीर्थनिकारो हेतुः, अविद्याऽभावेन तत्संभवाभावात्, तद्भावे च छद्मस्थास्ते, कुतस्तेषां केवलमपवर्गो वेति भावनीयमेतत्। न चान्यथा भव्योच्छेदेन संसारशून्यतेत्यसदालम्बनं ग्राह्यम्. आनन्त्येन भव्योच्छेदासिद्धेः, अनन्तानन्तकस्यानुच्छेदरूपत्वाद् अन्यथा सकलमुक्तिभावेनेष्टसंसारिवदुपचरितसमारम्भाज सर्वसंसारिण इति बलादापद्यते, अनिष्टं चैतदिति। व्यावृत्तच्छद्मान इति।२६। एवमप्रतिहतवरज्ञानदर्शनधरत्वेन व्यावृत्तच्छद्मतया चैतद्रूपत्वात् स्तोतव्यसम्पद एव सकारणा स्वरूपसम्पदिति। ७. संपत्।

(पं०—) 'न चान्यथे'ति, न च=नैव, अन्यथा=मोक्षात्पुनरिहागमनाभावे। 'इष्टसंसारिवदि'ति= मोक्षव्यावृत्तविवक्षितगोशालकादिसंसारिवत्।

२७. जिणाणं जावयाणं (जिनेभ्यः जापकेभ्यः)

(ल०—कल्पिताविद्याप्ररूपकतत्त्वान्तवादिमतखण्डनम्—) एतेऽपि कल्पिताविद्यावादिभिस्तत्त्वान्तवादिभि परमार्थेनाजिनादय एवेष्यन्ते 'भ्रान्तिमात्रमसदविद्ये'ति वचनाद्, एतद्व्यपोहायाह 'जिणाणं जावयाणं'—जिनेभ्यः जापकेभ्यः।

(पं०—) 'तत्त्वान्तवादिभि'रिति, तत्त्वान्तं तत्त्वनिष्ठारूपं निराकारं स्वच्छसंवेदनमेव वस्तुतया वदितुं शीलं येषां ते तथा तैः। एते च सुगतशिष्यचतुर्थप्रस्थानवर्त्तिनो माध्यमिका इति सम्भाव्यते; तेषामेव निराकारं स्वच्छसंवेदनमात्रमन्तरेण संवेदनान्तराणां भ्रान्तिमात्रतया एकान्तत एवासत्त्वाभ्युपगमात्। तथा च सौगतप्रस्थानचतुष्टयलक्षणमिदं, यथा

'अर्थो ज्ञानसमन्वितो मतिमता वैभाषिकेणोच्यते, प्रत्यक्षो न हि बाह्यवस्तुविसरः सूत्रान्तिकैराश्रितः।
योगाचारमतानुगैरभिहिता साकारबुद्धिः परा, मन्यन्ते बत मध्यमा कृतधियःस्वच्छां परां संविदम्॥

इति। 'प्रत्यक्षो न हि बाह्यवस्तुविसर' इति, यतोऽसावालम्बनप्रत्ययत्वेन स्वजन्यप्रत्यक्षज्ञानकाले क्षणिकत्वेन व्यावृत्तत्वात् तज्ज्ञानगतनीलाद्याकारान्यथानुपपत्तिवशेन पश्चादनुमेय एव, प्रत्यक्षस्तु तज्ज्ञानस्य स्वात्मैव, स्वसंवेदनरूपत्वादिति। तथा तैरपि बुद्धो जिनत्वेनाभ्युपगम्यते, तदुक्तम्—

शौद्धोदनिर्दशबलो बुद्धः शाक्यस्तथागतः सुगतः। मारजिदद्वयवादी समन्तभद्रो जिनश्च सिद्धार्थः॥'

इति। (प्र० जिनश्च तुल्यार्थो)

(ल०-भ्रान्तिर्न निर्निमित्तका –) तत्र रागद्वेषकषायेन्द्रियपरीषहोपसर्गघातिकर्मजेतृत्वाज्जिनाः। न खल्वेषामसतां जयः, असत्त्वादेव हि सकलव्यवहारगोचरातीतत्वेन जयविषयताऽयोगात्। भ्रान्तिमात्रकल्पनाप्येषामसङ्गतैव, निमित्तमन्तरेण भ्रान्तेरयोगात्।

(पं०–) 'ने'त्यादि, न खलु=नैव, एषां=रागादीनाम्, 'असताम्'=अविद्यमानानां, 'जयो'=निग्रहः कुत इत्याह 'असत्त्वादेव'=अविद्यमानत्वादेव, 'हि'–स्फुट, सकलव्यवहारगोचरातीतत्वेन=निग्रहानुग्रहादिनिखिललोकव्यवहारयोग्यतापेतत्वेन वान्ध्येयादिवत्, 'जयविषयताऽयोगात्'=जयक्रिया प्रति विषयभावायोगात्। अभ्युच्चयमाह 'भ्रान्तिमात्रकल्पनापि' भ्रान्तिमात्रमसदविद्यमानमितिवचनात्, न केवलं जय इति 'अपि' शब्दार्थे, 'एषां'=रागादीनाम्, 'असङ्गतैव'=अघटमाना (एव), कुत इत्याह 'निमित्तं' जीवापृथक्कर्मरूपम्, 'अन्तरेण'=विना, भ्रान्तेरयोगात्।

(ल०–मृगतृष्णिकाजलानुभवोऽपि न सर्वथा अवस्तु–) न चासदेव निमित्तम्, अतिप्रसङ्गात्; चितिमात्रादेव तु तदभ्युपगमेऽनुपरम इत्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः। तथापि तदसत्त्वेऽनुभवबाधा। न हि मृगतृष्णिकादावपि जलाद्यनुभवोऽनुभवात्मनाप्यसन्नेव।

(पं०–) पराशङ्कापरिहारायाह 'न च'=नैव, 'असदेव' न किञ्चिदेवेत्यर्थः' 'निमित्तं', प्रकृतभ्रान्तेः। हेतुमाह 'अतिप्रसङ्गात्'='नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वाऽहेतो'रिति प्राप्तेरिति। पुनरप्याशङ्क्याह 'चितिमात्रादेव'=चैतन्यमात्रादेव, 'तु'=पुनः, स्वव्यतिरिक्तकर्मलक्षणसहकारिरहितात्, 'तदभ्युपगमे'=भ्रान्तिमात्राभ्युपगमे, 'अनुपरमो'=भ्रान्तिमात्रस्यानुच्छेदो,अभ्रान्तज्ञानेष्वपि भ्रान्तिनिमित्ततया परिकल्पितस्य चितिमात्रस्य भावात्, ततः किमित्याह 'इति'=एवम्, 'अनिर्मोक्षप्रसङ्गः'=संसारानुच्छेदापत्तिः, चितिमात्रस्य मोक्षेऽपि भावात्। अभ्युपगम्यापि दूषणमाह 'तथापि'=चितिमात्रादेव भ्रान्तिमात्राभ्युपगमेऽपि, 'तदसत्त्वे'=भ्रान्तिमात्रासत्त्वे, 'अनुभवबाधा' तस्य स्वयं संवेदनं न प्राप्नोतीति, न ह्यसच्छशशृङ्गाद्यनुभूयत इति। एनामेव व्यतिरेकतः प्रतिवस्तूपन्यासेन भावयन्नाह 'न हि मृगतृष्णिकादावपि'=मरुमरीचिकाद्विचन्द्रादावपि मिथ्यारूपे विषये, आस्तां सत्याभिमते जलादौ, 'अनुभवः'=तज्ज्ञानवृत्तिः, 'अनुभवात्मनापि'=ज्ञानात्मनापि,'असन्नेव' स्वविषयतया तु स्यादप्यसन्निति 'अपि' शब्दार्थः।

(ल० भ्रान्तिकारणान्यपि नावस्तु–)आविद्वदङ्गनादिसिद्धमेतत्। न चायं पुरुषमात्रनिमित्तः, सर्वत्र सदाऽभावानुपपत्तेः। नैवं चितिमात्रनिबन्धना रागादय इति भावनीयम्। एवं च तथाभव्यत्वादिसामग्रीसमुद्भूतचरणपरिणामतो रागादिजेतृत्वादिना तात्त्विकजिनादिसिद्धिः। २७।

(पं०–)'आविद्वदङ्गनादिसिद्धमेतत्' सर्वजनप्रतीतमित्यर्थः। अत्रैव विशेषमाह 'न च' 'अयं'=मृगतृष्णिकाद्यनुभवः,'पुरुषमात्रनिमित्तः', पुरुषमात्रं=पुरुष एव तदनुभववान् स्वव्यतिरिक्तरविकरादिकारणनिरपेक्षो निमित्तं=हेतुर्यस्य स तथा। कुत इत्याह 'सर्वत्र' क्षेत्रे द्रष्टरि वा, 'सदा'=सर्वकालम्, 'अभावानुपपत्तेः'=अनुपरमप्राप्तेः। प्रस्तुतयोजनमाह, 'न'=नैव, 'एवं'=मृगतृष्णिकाद्यनुभववत्, 'चितिमात्रनिबन्धना रागादयः', किन्तु चैतन्यव्यतिरिक्तपौद्गलिककर्मसहकारिनिमित्ताः, 'इति भावनीयं'=प्राग्वदस्य भावना कार्या।

२८. तिण्णाणं तारयाणं (तीर्णेभ्यस्तारकेभ्यः)

(ल०—कालाधीनावर्तवादिमतनिरासः—) एते चावर्त्तकालकारणवादिभिरनन्तशिष्यैर्भावतोऽतीर्णादय एवेष्यन्ते, 'काल एव कृत्स्नं जगदावर्त्तयती'तिवचनात्। एतन्निरासायाह 'तीर्णेभ्यस्तारकेभ्यः'। ज्ञानदर्शनचारित्रपोतेन भवार्णव तीर्णवन्तस्तीर्णाः। नैतेषां जीवितावर्त्तवद् भवावर्त्तो, निबन्धनाभावात्।

(पं०—)'एते चावर्त्तकारणकालवादिभि'रिति, आवर्त्तस्य=नरनारकादिपर्यायपरिवर्त्तरूपस्य, काल एव, कारणं—निमित्तमिति, (वादिभिः=)वावदूकैः। 'तीर्णाः'। 'नैतेषामि'त्यादि, न=नैव, एतेषां—तीर्णानां, 'जीवितावर्त्तवत्,' जीवितस्य प्रागनुभूतस्य 'आवर्त्तवत्'=पुनर्भवनमिव, 'भवावर्त्तो' भवस्य कर्माष्टकोदयलक्षणस्य क्षीणस्य, आवर्त्तः प्रागुक्तरूपः, कुत इत्याह 'निबन्धनाभावात्', निबन्धनस्य—हेतोर्वक्ष्यमाणस्य अभावात्।

(ल० न क्षीणसंसारस्य भवाधिकारः—) न ह्यस्यायुष्कान्तरवद् भवाधिकारान्तरं, तद्भावेऽत्यन्तमरणवन्मुक्त्यसिद्धेः, तत्सिद्धौ च तद्भावेन भवनाभावः, हेत्वभावात्। न हि मृतस्तद्भावेन भवति मरणभावविरोधात्।

(पं०—) इदमेव भावयति 'न'=नैव, 'हिः'=यस्माद्, 'अस्य'=तीर्णस्य (प्र० तीर्थकरस्य), 'आयुष्कान्तरवत्'=नारकाद्यायुष्कविशेषवद्, 'भवाधिकारान्तर'=क्षीणाद्भवाधिकाराद् अन्यो भवाधिकारो, येनासाविह पुनरावर्त्तेत। विपक्षे बाधामाह 'तद्भावे', तस्य=आयुष्यकान्तरस्य भवाधिकारान्तरस्य च, भावे =सत्तायाम्, 'अत्यन्तमरणवत्'=सर्वप्रकारजीवितक्षये (प्र क्षयेण)मरणस्येव, 'मुक्त्यसिद्धेः', मुक्तेः= तीर्णतायाः, असिद्धेः=अयोगात्। व्यतिरेकमाह 'तत्सिद्धौ च', तस्य=अत्यन्तमरणस्य मुक्तेर्वा, सिद्धौ= अभ्युपगतायां, 'तद्भावेन'=आयुष्यकान्तरसाध्येन भवाधिकारान्तरसाध्येन च भावेन, 'भवनाभावः'=परिणतेरभाव, कुत इत्याह 'हेत्वभावात्,' हेतोः=आयुष्कान्तरस्य भवाधिकारान्तरस्य च अभावात्। पुनस्तदेव प्रतिवस्तूपमया भावयति 'न हि,' 'मृतः'=परासु, 'तद्भावेन'=अतीतामृतभावेन 'भवति', कथमित्याह 'मरणभावविरोधात्'=मरणामरणयोरात्यन्तिको विरोध इतिकृत्वा।

(ल०—) एतेन ऋत्वावर्त्तनिदर्शनं प्रत्युक्तं, न्यायानुपपत्तेः, तदावृत्तौ तदवस्थाभावेन परिणामान्तरायोगात्, अन्यथा तस्यावृत्तिरित्ययुक्तं, तस्य तदवस्थानिबन्धनत्वात्, अन्यथा तदहेतुकत्वापत्तेः (प्र०. त्वोपपत्तेः)। एवं न मुक्तः पुनर्भवे भवति मुक्तत्वविरोधात्, सर्वथा भवाधिकारनिवृत्तिरेव मुक्तिरिति, तद्भावेन भावतस्तीर्णादिसिद्धिः ॥ २८ ॥

(प०—) 'एतेन'=मृतस्यामृतभावप्रतिषेधेन, 'ऋत्वावर्त्तनिदर्शन', 'ऋतुर्व्यतीतः परिवर्त्तते पुनः' इति दृष्टान्त, प्रत्युक्तं=निराकृत, कुत इत्याह 'न्यायानुपपत्तेः'। तामेव दर्शयति 'तदावृत्तौ',-तस्य= ऋतोर्वसन्तादेः, आवृत्तौ=पुनर्भवने, 'तदवस्थाभावेन', तस्याः=अतीतवसन्तादिऋतुहेतुकायाश्चूतादेरङ्कु-

रादिकायाः पुरुषस्य च बालकुमारादिकाया अवस्थाया'भावेन'=प्राप्त्या, परिणामान्तरभावात् स एव प्राक्परिणाम. प्राप्नोति नापर इति भाव । विपक्षे बाधामाह 'अन्यथा'=परिणामान्तरे, 'तदावृत्तिः' तस्याः=ऋतोः आवृत्तिः=पुनर्भवनम्, 'इति'=एतद्, 'अयुक्तम्'=असाम्प्रतं, कुत इत्याह 'तस्य'=ऋतो', 'तदवस्थानिबन्धनत्वात्', तस्याः–पूतादेरङ्कुरादिकायाः, अवस्थाया निबन्धनत्वात् । तदवस्थाजनन(प्र०....जनक) स्वभावो ह्यसौ ऋतुः, कथमिवासौ अवस्था तत्सन्निधौ न स्यात् ? एतदेव व्यतिरेकत आह 'अन्यथा'= तत्सन्निधानेऽप्यभवने, 'तदहेतुकत्वोपपत्तेः', सः=अतीतऋतुलक्षणो, अहेतुर्यस्या' सा तथा, तद्भावस्तत्त्वं, तदुपपत्तेः; तद्धेतुकासौ न प्राप्नोतीति भाव' । २८ ।

२९. बुद्धाणं–बोहयाणं (बुद्धेभ्यो बोधकेभ्यः)

(ल० ज्ञानाप्रत्यक्षत्वगोचरमीमांसकमतनिरसनम्–) एतेऽपि परोक्षज्ञानवादिभिर्मीमांसकभेदैर्नीत्या अबुद्धादय एवेष्यन्ते 'अप्रत्यक्षा च नो बुद्धिः, प्रत्यक्षोऽर्थः' इति वचनाद्; एतद्व्यवच्छेदार्थमाह 'बुद्धेभ्यः बोधकेभ्यः' । अज्ञाननिद्राप्रसुप्ते जगत्यपरोपदेशेन जीवाजीवादिरूपं तत्त्वं बुद्धवन्तो बुद्धाः, स्वसंविदितेन ज्ञानेन, अन्यथा बोधायोगात् ।

(पं०–) 'अन्यथा बोधे'त्यादि, अन्यथा=अस्वसंविदितत्वे बुद्धे, बोधायोगात्=जीवादितत्त्वस्य संवेदनायोगात् ।

(ल०–ज्ञाने स्वासंवेद्येऽन्यासंवेद्यत्वम्–) नास्वसंविदिताया बुद्धेरवगमे कश्चिदुपायः, अनुमानादिबुद्धेरविषयत्वात् । न ज्ञानव्यक्तिर्विषयः, तदा तदसत्त्वात्; न तत्सामान्यं, तदात्मकत्वात् । न च व्यक्त्यग्रहे तद्ग्रह इत्यपि चिन्त्यम् ।

(पं०–) स्याद् वक्तव्यं'बुद्ध्यन्तरेण बुद्धिसंवेदने प्रकृतसिद्धिर्भविष्यती'त्याशङ्क्याह'नास्वसंविदिताया बुद्धेः' प्रत्यक्षादिरूपाया', 'अवगमे कश्चिदुपायः' बुद्ध्यन्तरलक्षण. । कुत इत्याह 'अनुमानादिबुद्धेरविषयत्वाद्'=अनुमानागमादिबुद्ध्यन्तरस्य तत्राप्रवृत्ते' एतदेव भावयति 'न ज्ञानव्यक्तिः' प्रतिनियतबहिरर्थग्राहिका (प्र० ग्राहका) प्रत्यक्षादिरूपा, अनुमानादिबुद्धे 'विषयः'=ग्राह्य, कुत इत्याह 'तदा'–अनुमानादिबुद्धिकाले 'तदसत्त्वात्'=तस्या ज्ञानव्यक्तेर्ग्राह्यरूपाया'असत्त्वात्',यौगपद्येन ज्ञानद्वयस्यानभ्युपगमात् । तर्हि तत्सामान्यं विषयो भविष्यतीत्याह । 'न तत्सामान्यं'=न प्रत्यक्षादिव्यक्ति(प्र०. वस्तु)सामान्यं, विषय इत्यनुवर्तते, कुत इत्याह 'तदात्मकत्वात्'=व्यक्तिरूपज्ञानस्वभावत्वात्, सामान्यस्य व्यक्त्यभावे तदभावात् । अभ्युच्चयमाह 'न च'=नैव,'व्यक्त्यग्रहे'=व्यक्तौ तदाधारभूतायामपरिच्छिद्यमानायां, 'तद्ग्रहः' =सामान्यग्रह', कथञ्चिद् व्यक्तिभ्यो भेदाभ्युपगमेऽपि । 'इत्यपि'=एतदपि, न केवलं व्यक्त्यभावे सामान्याभावः (प्र० अधिकपाठ' . किन्तु व्यक्त्यग्रहे न च तद्ग्रहः) इति 'अपि' शब्दार्थ' । 'चिन्त्यं'=परिभाव्यं, वृक्षादिविशेषप्रमेयेषु इत्थमेव दर्शनात् ।

(ल०–ज्ञानग्राहकानुमानार्थं लिङ्गाभावः–) नार्थप्रत्यक्षता लिङ्गं, यत् प्रत्यक्षपरिच्छे-

द्योऽर्थ एवार्थप्रत्यक्षता, प्रत्यक्षकर्मरूपतामापन्नोऽर्थ एव। न चेयमस्य विशिष्टावस्था विशेषणाप्रतीतौ प्रतीयत इति परिभावनीयम् ॥

(पं०—) किं च साध्याविनाभाविनो लिङ्गान्निश्चितात् साध्यनिश्चायकमनुमानं, न चात्र तथाविधं लिङ्गमस्ति, तथा चाह 'न'=नैव, 'अर्थप्रत्यक्षता'=लिङ्गान्तरासम्भवेना(प्र०....सम्भवेऽपि)परैर्लिङ्गतया कल्पिता वक्ष्यमाणरूपार्थप्रत्यक्षता, 'लिङ्ग'—हेतुर्बुद्धिग्राहकानुमानस्य, कुत इत्याह 'यद्'=यस्मात्, 'प्रत्यक्षपरिच्छेद्योऽर्थ एव',न तु तत्परिच्छेदोऽपि, 'अर्थप्रत्यक्षता' लिङ्गमभिमता। एतदेव स्पष्टयति 'प्रत्यक्षकर्मरूपतां', प्रत्यक्षस्य—इन्द्रियज्ञानस्य, कर्मरूपतां=विषयताम्, 'आपन्नोऽर्थ एव', न तु तद्व्यतिरिक्तं किञ्चित्। यदि नामैवं ततः किमित्याह 'न च', 'इयं'=प्रत्यक्षता, 'अस्य'=अर्थस्य, 'विशिष्टावस्था' प्रत्यक्षज्ञानविषयभावपरिणतिरूपा, 'विशेषणाप्रतीतौ', विशेषणस्य=प्रत्यक्षज्ञानस्य, अप्रतीतौ=असंवेदने, 'प्रतीयते' =निश्चीयते, इति परिभावनीयम्। न हि प्रदीपादिप्रकाशाप्रतीतौ तत्प्रकाशितघटादिप्रतीतिरुपलभ्यते। न चान्वयव्यतिरेकाभ्यामनिश्चिताद्धेतोः साध्यप्रतीतिरिति।

(ल०—इन्द्रियवद् ज्ञानं न स्वरूपसत् प्रकाशकम्) एवं चेन्द्रियवदज्ञातस्वरूपैवेयं स्वकार्यकारिणीत्यप्ययुक्तमेव, तत्कार्यप्रत्यक्षत्वेन वैधर्म्यात्। अतोऽर्थप्रत्यक्षताऽर्थपरिच्छेद एवेति नीत्या बुद्ध्यादिसिद्धिः। २९

(पं०—) स्याद् वक्तव्य 'यथेन्द्रियं स्वयमप्रतीतमपि ज्ञान प्रत्यक्षं जनयति, तथा तद्भवा बुद्धिरपि स्वयमप्रतीताप्यर्थप्रत्यय करिष्यती'त्याशङ्का। परिहरन्नाह 'एवं च'=अनेन प्रकारेणानुमानादिविषयताऽघटने (प्र .घटनेन) प्रत्यक्षबुद्धिः 'इन्द्रियवद्','अज्ञातस्वरूपैवेयं'—स्वयमप्रतीतैव प्रत्यक्षबुद्धिः,'स्वकार्यकारिणी', स्वकार्यं विषयस्य परिच्छेद्यत्वं, तत्कारिणी,'इत्यपि'=एतदपि, न केवलमस्यानुमानादिविषयत्वम्, 'अयुक्तमेव'। कुत इत्याह 'तत्कार्यप्रत्यक्षत्वेन' तस्य—इन्द्रियस्य, कार्यं=विज्ञानं, तस्य प्रत्यक्षत्वं, तेन, 'वैधर्म्यात्'= वैसदृश्याद् बुद्धिकृतार्थप्रत्यक्षतायाः। अन्यादृशं हीन्द्रियप्रत्यक्षमन्यादृशं बुद्धे। इदमेवाह 'अतः'—इन्द्रियाद् 'अर्थप्रत्यक्षता अर्थपरिच्छेद एव'=विषयप्रतीतिरेवोपलब्धव्यापाररूपा, बुद्धेस्तु विषयस्योपलभ्यमानतैवार्थप्रत्यक्षता; साधर्म्यसिद्धौ च दृष्टान्तसिद्धिरिति।

३०. मुत्ताणं मोयगाणं (मुक्तेभ्यो मोचकेभ्यः)

(ल०—जगत्कर्तृलीनमुक्तमत—निरासः) एतेऽपि जगत्कर्तृलीनमुक्तवादिभिः सन्तपनविनेयैस्तत्त्वतोऽमुक्तादय एवेष्यन्ते 'ब्रह्मवद् ब्रह्मसङ्गतानां स्थिति'रितिवचनात्। एतन्निराचिकीर्षयाऽऽह 'मुक्तेभ्यो मोचकेभ्यः।' चतुर्गतिविपाकचित्रकर्मबन्धमुक्तत्वान्मुक्ताः कृतकृत्या निष्ठितार्था इति योऽर्थः।

(ल० लयमते जगत्कर्तृत्वमते च दोषाः) न जगत्कर्तरि लये निष्ठितार्थत्वं, तत्करणेन कृतकृत्यत्वायोगात्; हीनादिकरणे चेच्छाद्वेषादिप्रसङ्ग, तद्व्यतिरेकेण तथाप्रवृत्त्यसिद्धेः।

एवं सामान्यसंसारिणोऽविशिष्टतरं मुक्तत्वमिति चिन्तनीयम् ॥

(पं०—) 'ने'त्यादि, न=नैव, 'जगत्कर्तरि' ब्रह्मलक्षणे, आधारभूते, 'लये'=अभिन्नरूपावस्थाने, 'मुक्तानां निष्ठितार्थतरं' कुत इत्याह 'तत्करणेन', तस्य=जगतः, 'करणेन', ब्रह्मसाङ्गत्येन मुक्तानां कृतकृत्यत्वायोगात । अत्रैवाभ्युच्चयमाह 'हीनादिकरणे'—हीनमध्यमोत्कृष्टजगत्करणे मुक्तानाम् 'इच्छाद्वेषादिप्रसङ्गः' सङ्कल्पमत्सराभिष्वङ्गप्राप्तिः । कुत इत्याह 'तद्व्यतिरेकेण' इच्छादीन (प्र०.. द्य)न्तरेण, तथाप्रवृत्त्यसिद्धेः'=वैचित्र्येण प्रवृत्त्ययोगात् । एवं जगत्करणे 'सामान्यसंसारिणो'=मनुष्याद्यन्यतरस्माद्, 'अविशिष्टतरम्'=अतिजघन्यं, 'मुक्तत्वम्' 'इति चिन्तनीयम्'= अस्य भावना कार्या, अन्यस्य जगत्कर्तुमशक्तत्वेन परिमितेच्छादिदोषत्वात् ।

(ल०—निमित्तकर्तृत्वमपि न)—निमित्तकर्तृत्वाभ्युपगमे तु तत्त्वतोऽकर्तृत्वं स्वातन्त्र्यासिद्धेः ।

(पं०—) अथ कर्मादिकृत-जगद्वैचित्र्यं, पुरुषस्तु निमित्तमात्रत्वेन कर्तेत्यपि निरस्यन्नाह 'निमित्तमात्रकर्तृत्वाभ्युपगमे तु'=निमित्तं सन्नसौ कर्ता इच्छादिदोषपरिजिहीर्षयेत्येवमङ्गीकरणे पुनः 'तत्त्वतो'=निरुपचरिततया, 'अकर्तृत्वं' पुरुषस्य । हेतुमाह 'स्वातन्त्र्यासिद्धेः'=स्वतन्त्रः कर्तेति कर्तृलक्षणानुपपत्तेः ।

(ल०—लयमते एकतरसत्तानाश—उपचयप्रापत्तिः स्वमते निमित्तकर्तृत्वम्—) न च द्वयोरेकीभावः, अन्यतराभावप्रसङ्गात् । न सत्तायाः सत्तान्तरप्रवेशेऽनुपचयः, उपचये च सैव सा, इत्ययुक्तं, तदन्तरमापन्नः स इति नीतिः । नैवमन्यस्य अन्यत्र लय इति मोहविषप्रसरकटकबन्धः । तदेवं निमित्तकर्तृत्व—परभावनिवृत्तिभ्यां तत्त्वतो मुक्तादिसिद्धिः । ३० ।

(अष्टमसंपदुपसंहारः—) एवं जिनजापक—तीर्णतारक—बुद्धबोधक—मुक्तमोचकभावेन स्वपरहितसिद्धेः, आत्मतुल्यपरफलकर्तृत्वसंपदिति । ८ ।

(पं०—) तथाऽन्यस्यान्यत्र लयोऽप्यनुपपन्न इति दर्शयन्नाह 'न च,' 'द्वयो'=मुक्तपरमपुरुषयोः, 'एकीभावो' लयलक्षणः, कुत इत्याह 'अन्यतराभावप्रसङ्गाद्', अन्यतरस्य=मुक्तस्य परमपुरुषस्य वा, अभावप्रसङ्गात्=असत्त्वप्राप्तेः, अन्यतरस्येतरस्वरूपपरिणतौ तत्र लीनत्वोपपत्तेः । एतदनभ्युपगमे (प्र०—अत्रैव) दूषणान्तरमाह 'न', 'सत्तायाः' परमपुरुषलक्षणायाः, 'सत्तान्तरप्रवेशे', सत्तान्तरे=मुक्तलक्षणे प्रविष्टे सतीत्यर्थः, 'अनुपचयः' किन्तूपचय एव वृद्धिरूपः घृतादिपलस्य पलान्तरप्रवेश इव । यद्येवं ततः किमित्याह 'उपचये च' सत्तायाः, 'सैव' प्राक्तनी पुरुषस्य मुक्तस्य वा, 'सा' सत्ता, 'इति', 'अयुक्तम्'=असङ्गतं, कुत ? यतः 'तदन्तरं'=सत्तान्तरं पृथक् तत्सत्तापेक्षया, 'आपन्नः' पाठान्तरे 'आसन्नः' =प्राप्तः 'स' इत्युपचयः । क्वचिच्चासन्नमिति पाठस्तत्र तदन्तरमिति योज्यम् । 'इति नीतिः'=एषा न्यायमुद्रा । अथ प्रकृतसिद्धिमाह 'न'—नैव, 'एवं'=द्वयोरेकीभावेऽन्यतराभावप्रसङ्गेन, उपचये तदन्तरापत्त्या वा, 'अन्यस्य'=सामान्येन मुक्तादेः, 'अन्यत्र'=पुरुषाकाशादौ, 'लय इति', एष लयनिषेधो, 'मोहविषप्रसरकटकबन्धः' एवं निषेधे हि कटकबन्ध इव विषं न मोहः प्रसरतीति । 'तत्'=तस्माद्, 'एवम्',

=उक्तनीत्या, 'निमित्तकर्तृत्व–परमात्रनिवृत्तिभ्यां', निमित्तकर्तृत्वं च मुख्यकर्तृत्वायोगेन भव्यानां परिशुद्धप्रणिधानादिप्रवृत्त्यालम्बनतया, परभावनिवृत्तिश्च लयायोगलक्षणा, ताभ्यां 'तत्वतो'=मुख्यवृत्त्या, मुक्तादिसिद्धिः=मुक्तमोचकसिद्धि ।

३१. सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं (सर्वज्ञेभ्यः सर्वदर्शिभ्यः)

(ल०–बुद्धिधर्मभूतज्ञानवादी–सांख्यमतम्–) एतेऽपि बुद्धियोगज्ञानवादिभिः कापिलैरसर्वज्ञा असर्वदर्शिनश्चेष्यन्ते, 'बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते' इति वचनात् ।

(पं०–) 'बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते' इति । अत्र हि सांख्यप्रक्रिया–सत्त्वरजस्तमोलक्षणस्त्रयो गुणा, तत्साम्यावस्था प्रकृति, सैव च प्रधानमित्युच्यते । प्रकृतेर्महान्, महदिति (अ०.. महानिति) बुद्धेराख्या । महतोऽहङ्कार आत्माभिमान । ततः पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि, वाक्पाणिपादपायूपस्थलक्षणानि पञ्चैव कर्मेन्द्रियाणि, एकादशरूप (प्र०.. दशमिच्छारूपं) मन, तथा पञ्च तन्मात्राणि गन्धरसरूपस्पर्शशब्दस्वभावानि । तन्मात्रेभ्यश्च यथाक्रमं भूप्रभृतीनि पञ्च महाभूतानि प्रवर्त्तन्ते इति । अत्र च प्रकृतिविकारत्वेनाचेतनापि बुद्धिचैतन्यस्वतत्त्वपुरुषोपरागात् (प्र०... पोपगमात्) सचेतनेवावभासते । तदुक्त, 'पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम् । मनः करोति सान्निध्यादुपाधिः स्फटिक यथा' अस्य व्याख्या,–'पुरुष'=आत्मा' 'अविकृतात्मैव'=नित्य एव, 'स्वनिर्भास'=स्वाकारम्, 'अचेतन'=चैतन्यशून्यं सत् 'मन':=अन्त'करणं, 'करोति'=विदधाति, 'सान्निध्यात्'=सांनिध्यमात्रेण, निदर्शनमाह 'उपाधि'=पद्मरागादि', 'स्फटिकं' उपलविशेषं, यथा स्वनिर्भास करोति तत्परिणामान्तरापत्ते., भोगोऽप्यस्य मनोद्वारक एव । अत्राप्युक्तम्, 'विभक्तेदृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते । प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे, यथा चन्द्रमसोऽम्भसि' । अस्य व्याख्या–विभक्ता चासौ आत्मन इदृक्परिणतिश्च प्रतिबिम्बोदयरूपेति विग्रह । तस्यां सत्यां सैव भोग इत्यर्थः । क्व या परिणतिरित्याह 'बुद्धौ' अन्त करणलक्षणायां, भोगो' विषयग्रहणरूप, 'अस्य'=आत्मन, 'कथ्यते' आसुरिप्रभृतिभि । किवदित्याह 'प्रतिबिम्बोदय'=प्रतिबिम्बपरिणामः, 'स्वच्छे'=निर्मले, 'यथा चन्द्रमसो' वास्तवस्य, 'अम्भसि'=उदके, तद्वदिति । अथ प्रकृत व्याख्यायते 'बुद्ध्यध्यवसितम्..' बुद्ध्या अनन्तरोक्तया, अध्यवसितं=प्रतिपन्न, 'अर्थं'–शब्दादिविषय, पुरुषः= आत्मा, चेतयते–जानाति, अर्थचेतने बुद्धेरन्तरङ्गकरणत्वात् ।

(ल० सांख्यमतनिरसनम्ः मत्तोऽन्ये मदर्थाश्च गुणाः–) एतन्निराकरणायाह 'सर्वज्ञेभ्यः सर्वदर्शिभ्य' सर्वं जानन्तीति सर्वज्ञाः, सर्वं पश्यन्तीति सर्वदर्शिनः, तत्स्वभावत्वे सति निरावरणत्वात् । मत्तोऽन्ये मदर्थाश्च गुणा इति अतस्तत्तत्स्वभावत्वसिद्धिः । उक्तं च, 'स्थितः शीतांशुवज्जीवः प्रकृत्या भावशुद्धया । चन्द्रिकावच्च विज्ञानं तदावरणमभ्रवद् ॥ १ ॥ इत्यादि ।

(पं०–) 'मत्तोऽन्ये मदर्थाश्चे'त्यादि, इह किलैकदा भगवानर्हन् द्रव्यान् पर्यायान् भिन्नानभिन्नांश्च स्वशिष्येभ्य आचिख्यासुरात्मानमेवातिसन्निहिततयोदिश्याह मत्तो=मत्सकाशाद्, अन्ये=पृथक्, गुणा=

ज्ञानदर्शनोपयोगादय', लक्षण–संख्या–प्रयोजन–संज्ञाभेदात् । तथाहि,–'गुणपर्यायवद् द्रव्यमि'ति लक्षण (तत्त्वार्थ० ५–३७) 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' इतिलक्षणाश्च गुणाः (तत्त्वार्थ० ५–४०) एकोऽहम् गुणाः, बन्धमोक्षादिक्रियाफलवानहं विषयावगमादिफलाश्च गुणाः । अर्हत्तीर्थकरपारगतादिशब्दवाच्यो धर्मपर्यायादिशब्दवाच्याश्च गुणा' । मदर्थाश्चेति, अहमर्थः साध्यं येषां ते तथा । न हि गुणवृत्तिविलक्षणा काचिदैकान्तिकी ममापि प्रवृत्तिरस्ति तथाप्रतिभासात् । 'इति' वाक्यपरिसमाप्तौ । 'अत' एतद्वाक्य 'तत्तत्स्वभावत्वसिद्धि'', तेषां=गुणानां तत्स्वभावत्वसिद्धिः द्रव्यस्वभावत्वसिद्धि' ।

(ल०–करणाभावे मोक्षे जीवः कथं ज्ञानकर्ता ?–) 'न करणाभावे कर्ता तत्फलसाध इत्यप्यनैकान्तिकम्, परिनिष्ठितप्लवकस्य तरकाण्डाभावे प्लवनसंदर्शनादिति । न चौदयि क्रियाभावरहितस्य ज्ञानमात्राद् दुःखादयः, तथानुभवतस्तत्स्वभावत्वोपपत्तेः ।

(पं०–) अर्थचेतने पुरुषस्य किल बुद्धिः करणं, प्रकृतिवियोगे च मुक्तावस्थायां करणाभाव सर्वज्ञत्वं सर्वदर्शित्वं वा नभवतीतिपराकृत(प्र० परोक्तं तत्)निराकरणायोवाच 'न च करणे'त्यादि सुगमं चैतत् । ननु नीलपीतादय इव बहिरर्थधर्मा दुःखद्वेषशोकवैषयिकसुखादयः; ततो मुक्तावस्थायां सर्व त्वसर्वदर्शित्वाभ्युपगमे बहिरर्थवेदनवेलायां सर्वदुःखाद्यनुभवस्तस्य प्राप्नोतीत्याशङ्कापरिहारायाह 'न चौदयि त्यादि, न च=नैव, औदयिकक्रियाभावरहितस्य = असद्वेद्यादिकर्मपाकप्रभवस्वपरिणामरहितस 'ज्ञानमात्रात्' परिज्ञानादेव, 'दुःखादयो'=दुःखद्वेषादय' (प्र०. 'दुःखोदयो'=दुःखद्वेषोदयो), हेतुम 'तथानुभवतः'=ज्ञानमात्रादेव दुःखाद्यनुभवने भवत' (प्र० दुःखाद्यनुभवात्) तत्स्वभावत्वोपपत्तेः' दुःखादीनामौदयिकक्रियाभावस्वभावत्वोपपत्तेरिति ।

(ल०–ज्ञानदर्शनमध्येकस्य कथं सर्वार्थविषयत्वम् ?–) अन्यस्त्वाह, ज्ञानस्य विशेषविषयत्वा दर्शनस्य च सामान्यविषयत्वात् तयो सर्वार्थविषयत्वमयुक्तं, तदुभयस्य सर्वार्थविषयत्वादिति उच्यते, न हि सामान्यविशेषयोर्भेद एव, किन्तु त एव पदार्थाः समविषमतया समज्ञायमान सामान्यविशेषशब्दाभिधेयतां प्रतिपद्यन्ते; ततश्च त एव ज्ञायन्ते त एव दृश्यन्ते इति युक्त ज्ञानदर्शनयोः सर्वार्थविषयत्वमिति ।

(ल०–समताधर्मविषमताधर्मयोरपि नैकान्तभेद'–) आह, 'एवमपि ज्ञानेन विषमताधर्म विशिष्टा एव गम्यन्ते, न समता(प्र० सामान्यता)धर्मविशिष्टा अपि, तथा दर्शनेन च समत धर्मविशिष्टा एव गम्यन्ते, न विषमताधर्मविशिष्टा अपि । ततश्च ज्ञानेन समताख्यधर्माग्रहणा दर्शनेन च विषमताख्यधर्माग्रहणाद्, धर्माणामपि चार्थत्वाद्, अयुक्तमे तयोः सर्वार्थविषयत्वमिति ।' न, धर्मधर्मिणोः सर्वथा भेदानभ्युपगमात् । त श्चाभ्यन्तरीकृतसमताख्यधर्माण एव विषमताधर्मविशिष्टा ज्ञानेन गम्यन्ते, तथा, अभ्यन्तरी कृतविषमताख्यधर्माण एव च समताधर्मविशिष्टा दर्शनेन गम्यन्ते इत्यतो न दोषः

एतदुक्तं भवति–जीवस्वाभाव्यात् सामान्यप्रधानमुपसर्जनीकृतविशेषमर्थग्रहणं दर्शनमुच्यते, तथा विशेषप्रधानमुपसर्जनीकृतसामान्यं च ज्ञानमिति कृतं विस्तरेण ।

(ल०–अमूर्तज्ञाने कथं साकारता? :–) अपर आह,–'मुक्तात्मनोऽमूर्तत्वात् ज्ञानस्यापि तद्धर्मत्वेन तत्त्वाद् विषयाकारताऽयोगतस्तत्त्वतो ज्ञानाभावः। निस्तरङ्गमहोदधिकल्पो ह्यसौ, तत्तरङ्गतुल्याश्च महदादिपवनयोगतो वृत्तय इति तदभावात्तदभावः। एवं सर्वज्ञत्वानुपपत्तिरेवेति' –एतदप्यसत्, विषयग्रहणपरिणामस्याकारत्वात्, तस्य चामूर्त्तत्वेऽप्यविरोधात्, अनेकविषयस्यापि चास्य संभवात्, चित्रास्तरणादौ तथोपलब्धेरिति ।

(पं०–) 'अपरे'त्यादि, अपरः=सांख्य, आह=प्रेरयति, 'मुक्तात्मनः'=क्षीणकर्मण', 'अमूर्त्तत्वात्'=रूपादिरहितत्वात्, किमित्याह 'ज्ञानस्यापि', न केवलं मुक्तात्मन', 'तद्धर्मत्वेन' मुक्तात्मधर्मत्वेन 'तत्त्वाद्'–अमूर्तत्वात्, तत. किमित्याह 'विषयाकारताऽयोगत', विषयस्येव=गोचरस्येव, आकारः=स्वभावो यस्य तत्तथा तद्भावस्तत्ता, तस्या. अयोगत'=अघटनात्, 'तत्त्वतो'=निरुक्तवृत्त्या ज्ञायतेऽनेनेति करणसाधनज्ञानाभाव एव । तदेव भावयति 'निस्तरङ्गमहोदधिकल्पो ह्यसौ' मुक्तात्मा, 'तत्तरङ्गतुल्याश्च महदादिपवनयोगतो वृत्तय' इति बुद्ध्यहङ्कारादिप्रकृतिविकारपवनसम्बन्धात् वृत्तयो=विषयज्ञानादिका' प्रवृत्तय. । 'इति'=एव, 'तदभावात्'=महदादिपवनयोगाभावात्, 'तदभावः'=तरङ्गतुल्यवृत्त्यभाव । तत' किमित्याह 'एवं'=वृत्त्यभावात्, 'सर्वज्ञत्वानुपपत्तिरेव' मुक्तावस्थायां, निराकारेण तु विज्ञानेन विषयग्रहणाभ्युपगमे विषयप्रतिनियमस्याघटनात् । इतिः परवक्तव्यतासमाप्तौ । 'एतदपि' साङ्ख्योक्तम्, 'असद्' =असुन्दर, कुत इत्याह 'विषयग्रहणपरिणामस्य'=विषयग्राहकत्वेन जीवपरिणतेरेव 'आकारत्वात्', 'तस्य च'उक्तरूपस्याकारस्य. 'अमूर्तेऽपि'=मुक्तात्मन्यपि, न केवलं मूर्ते इति 'अपे'रर्थः, 'अविरोधात्' =केनाप्यबाध्यमानत्वात । अभ्युच्चयमाह 'अनेकविषयस्यापि च'=युगपदनेक विषयमाश्रित्य प्रवृत्तस्यापि च, किं पुनरेकविषयस्य, 'अस्य' =उक्तरूपाकारस्य, 'संभवात्'=घटनात् । एतदपि कुत इत्याह 'चित्रास्तरणादौ,' चित्रे' प्रतीते, आस्तरणे च=वर्णकम्बले, 'आदि'शब्दादन्यबहुवर्णविषयग्रह, 'तथोपलब्धेः'=युगपद्बहुविषयाकारोपलब्धे स्वसंवेदनेनैव ।

(पं०–आकारस्य प्रतिबिम्बसंक्रमरूपत्वे दोष –)ज्ञेयवस्तुप्रतिबिम्बसंक्रमस्य तु तदाकारत्वे ज्ञानस्याभ्युपगम्यमानेऽनेकदोषप्रसङ्गात्, व्याप्त्यनुपपत्ते, धर्मास्तिकायादिष्वमूर्तत्वेनाकाराभावे प्रतिबिम्बायोगात्, तस्य मूर्तधर्मत्वात्, तथा तत्प्रतिबद्धवस्तुसंक्रमाभावेऽभावात् । न ह्यङ्गनावदनच्छायाणुसंक्रमातिरेकेणाऽऽदर्शे तत्प्रतिबिम्बसम्भवोऽस्ति, अम्भसि वा निशाकरबिम्बस्येति, अन्यथातिप्रसङ्गात् । उक्तं च परममुनिभि सामा उ दिया छाया अभासुरगया निसिं तु कालाभा । सच्चेव भासुरगया सदेहवण्णा मुणेयव्वा ॥ १ ॥ जे आयरिसस्संतो देहावयवा हवंति संकंता । तेसिं तत्थुवलद्धी पगासजोगा न इयरेसिं ॥ २ ॥ इत्यादि ।

चित्रास्तरणाद्यनेकवस्तुग्रहणावसरे चैकत्रानेकप्रतिबिम्बोदयासम्भवात्, संभवे वा 'प्रतिबिम्बसाङ्कर्योपपत्तेस्तदनुसारेण च परस्परसंकीर्णवस्तुप्रतिपत्तिप्रसङ्गादिति ।

(ल०—विशिष्टप्रतिबिम्बसिद्धान्तः—) एतेन विषयाकाराप्रतिसंक्रमादिना ज्ञानस्य प्रतिबिम्बाकारताप्रतिक्षेपः प्रत्युक्तः, विषयग्रहणपरिणामस्यैव प्रतिबिम्बत्वेनाभ्युपगमात् । एवं, साकारं ज्ञानमनाकारं च दर्शनमित्यपि सिद्धं भवति, ततश्च सर्वज्ञाः सर्वदर्शिनः । तेभ्यो नम इति क्रियायोगः ॥ ३१ ॥

(पं०—) अथ प्रसङ्गसिद्धिमाह 'एतेन'=विषयग्रहणपरिणामस्यैवाकारत्वेन, 'विषयाकाराप्रतिसंक्रमादिना', विषयाकारस्य=ग्राह्यसंनिवेशस्य, अप्रतिसंक्रम'—स्वग्राहिणि ज्ञानेऽप्रतिबिम्बन, विषयाकाराप्रतिसंक्रम' । विषयाकारप्रतिसंक्रमे हि एकत्वं वा ज्ञानज्ञेययोरेकाकारीभूतत्वात्, विषयो वा निराकारः स्यात्, तदाकारस्य ज्ञाने प्रतिसंक्रान्तत्वाद्, यदाह धर्मसंग्रहणीकार 'तदभिन्नाकारत्ते, दोण्ह एगत्तमो कह न भवे ? नाणे व तदाकारे, तस्साणागारभावोत्ति ॥ १ ॥ 'आदि' शब्दात् प्रतिनियतप्रतिपत्तिहेतोर्ज्ञेयेन तुल्याकारतया (प्र० 'तायां तायाः) ज्ञानस्य, प्रतिषेधो दृश्यः, क्रमवृत्तिनोर्ज्ञेयज्ञानयो' क्षणिकयो' क्षणस्थायिना ज्ञानेन उभयाश्रितायास्तस्या एव प्रतिपत्तुमशक्यत्वात् । किं च तुल्यत्वं नाम सामान्यं, तच्चैकमनेकव्यक्त्याश्रितमिति कथं न तदाश्रितदोषप्रसङ्ग' ? । अत्राप्याह—सिय तत्तुल्लागारं जं तं भणिमो तयं तदागारं । अत्रोत्तरं—तग्गहणाभावे नणु तुल्लत्तं गम्मई कह णु ? ॥ १ ॥ तुल्लत्तं सामन्नं एगमणेगासियं अजुत्ततरं । तम्हा घडादिकज्जं दीसइ मोहामिहाणमिदं ॥ २ ॥ ततस्तेन विषयाकाराप्रतिसंक्रमादिना कारणेन, 'ज्ञानस्य'=विज्ञानस्य विषयग्राहिण', 'प्रतिबिम्बाकारताप्रतिक्षेपो' ज्ञानवादिप्रतिज्ञातो 'विषयप्रतिबिम्बाकारं विज्ञानं न घटते, किन्तु अबाह्याकारमेव सत्स्वभावमात्रप्रतिभासी'त्येवरूप 'प्रत्युक्तः'=निराकृत । 'विषयग्रहणे'त्यादि, हेतुश्च प्रतीत 'एवं'=मुक्तरूपपरिणामस्याऽऽकारत्वे, सामयिकविवक्षया 'साकार'=विशेषग्रहणपरिणामवत्, 'ज्ञानम्'=उपयोगविशेष', 'अनाकारं च'=सामान्यग्रहणपरिणामवत् (च), 'दर्शनम्'=उपयोगभेद एव, 'इत्यपि'=एतदपि, 'सिद्धं भवति' ।

३२ सिव—मयल मरुअ—मणंत—मक्खय—मव्वाबाह—मपुणरावित्तिसिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपत्ताणं (शिवमचलमरुज—मनन्तमक्षयमव्याबाधमपुनरावृत्ति—सिद्धिगतिनामधेयं स्थानं संप्राप्तेभ्य')

(ल०—'आत्मविभुत्व'मतखण्डनम्—) एते च सर्वेऽपि सर्वगतात्मवादिभिर्द्रव्यादिवादिभिस्तत्त्वेन सदा लोकान्तशिवादिस्थानस्था एवेष्यन्ते, 'विभुर्नित्य आत्मे'तिवचनात् । एतद्व्यपोहायाह 'शिवमचलमरुजमनन्तमक्षयमव्याबाधमपुनरावृत्तिसिद्धिगतिनामधेयं स्थानं संप्राप्तेभ्यः' ।

(पं०—)'द्रव्यादिवादिभिः' इति=द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायवादिभिः, वैशेषिकैरित्यर्थः। 'विभु'रिति=सर्वाकाशव्यापी।

(ल०—सयुक्तिकं 'स्थान'—'शिवा'दिविवेचनम्:—)इह तिष्ठन्त्यस्मिन्निति स्थानं, व्यवहारतः सिद्धिक्षेत्रम् 'इह बोंदिं चइत्ता णं तत्थ गंतूण सिज्झइ' त्तिवचनात्; निश्चयतस्तु तत्स्वरूपमेव, 'सर्वे भावा आत्मभावे तिष्ठन्ती'तिवचनात्। एतदेव विशेष्यते (शिवमित्यादिभिः) तत्र 'शिवम्' इति सर्वोपद्रवरहितत्वाच्छिवम्। तथा स्वाभाविक—प्रायोगिकचलनक्रियारहितत्वान्न चलमचलम्। तथा रुजाशब्देन व्याधिवेदनाभिधानं, ततश्चाविद्यमानरुजमरुजम् तन्निबन्धनयो शरीर—मनसोरभावात्।

(ल०—अक्षय—अनन्त—अव्याबाध—अपुनरावृत्ति' पदार्थः) तथा नास्यान्तो विद्यत इत्यनन्तं, केवलात्मनोऽनन्तत्वात्। तथा नास्य क्षयो विद्यत इत्यक्षयं, विनाशकारणाभावात्, सततमनश्वरमित्यर्थः। तथा अविद्यमानव्याबाधम्, अमूर्तत्वात्, तत्स्वभावत्वादितिभावना। तथा न पुनरावृत्तिर्यस्मात्, तद् अपुनरावृत्ति। आवर्तनमावृत्तिः, भवार्णवे तथा तथाऽऽवर्त्तनमित्यर्थः।

(ल०—'सिद्धिगतिनामधेयस्थानसमाप्त' शब्दार्थः) तथा सिध्यन्ति निष्ठितार्था भवन्त्यस्यां प्राणिन इति 'सिद्धिः' लोकान्तक्षेत्रलक्षणा। सैव च गम्यमानत्वाद् गतिः। सिद्धिगतिरेव 'नामधेयं' यस्य तत् तथाविधिमिति। 'स्थानं' प्रागुक्तमेव। इह च स्थानस्थानिनोरभेदोपचारादेवमाहेति। 'संप्राप्ताः' इति, सम्यग्=अशेषकर्मविच्युत्या स्वरूपगमनेन परिणामान्तरापत्त्या प्राप्ताः।

(आत्मसर्वगतत्वखण्डनम्—) न विभूनां नित्यानां चैवं प्राप्तिसंभवः, सर्वगतत्वे सति सदैकस्वभावत्वात्। विभूनां सदा सर्वत्र भावः, नित्यानां चैकरूपतयावस्थानं, तद्भावाव्ययस्य नित्यत्वात्। अतः क्षेत्रासर्वगतपरिणामिनामेवैवंप्राप्तिसंभव इति भावनीयम्। तत् तेभ्यो नम इति क्रियायोग इति॥ ३२॥

नमो जिणाणं जियभयाणं (नमो जिनेभ्यः जितभयेभ्यः)

(ल०—प्रत्येक पदे कथं नमस्कार ?) एवंभूता एव प्रेक्षावतां नमस्कारार्हा आद्यन्तसङ्गतश्च नमस्कारो मध्यव्यापीति भावना। जितभया अप्येते एव, नान्ये, इति प्रतिपादयन्नाह 'नमो जिनेभ्यः जितभयेभ्यः'। नम इति पूर्ववत्, जिना इति च। जितभया भवप्रपञ्चनिवृत्ते क्षपितभया इत्युक्तं भवति।

(मुक्तौ अद्वैतं मन्यमानस्य निरासः–) अनेनाद्वैतमुक्तव्यवच्छेदः। तत्र हि क्षेत्रज्ञाः परमब्रह्मस्फुलिङ्गकल्पाः, तेषां च ततः पृथग्भावे न ब्रह्मसत्तात एव कश्चिदपरो हेतुरिति सा तल्लयेऽपि तथाविधैव तद्वदेव भूयः पृथक्त्वापत्तिः।

(पं०) 'अनेने'त्यादि, अनेन=भावतो जितभयत्वनिर्देशेन अद्वैते परमब्रह्मलक्षणे सति, मुक्ताः =क्षीणभवा', तेषां व्यवच्छेदो=निरास, कृत इति गम्यम्। कुत इत्याह 'तत्र'=अद्वैते, 'हि'=यस्मात् 'क्षेत्रज्ञाः'=संसारिण', 'परमब्रह्मविस्फुलिङ्गकल्पाः' परमब्रह्मणः=परमपुरुषस्य, (स्फुलिङ्गकल्पा =) अवयवा एवेति भाव'। यदि नामैव तत किम्? इत्याह 'तेषां च'=क्षेत्रज्ञानां, 'ततः'=परमब्रह्मण', 'पृथग्भावे'=विचटने (प्र० विघटने) 'न'=नैव, 'ब्रह्मसत्तात एव'=ब्रह्मसत्ताया एव सकाशात्, 'कश्चित्' कालादि', 'अपर'=अन्यो, 'हेतुः'=निमित्तम्, 'इति'=एव, 'सा'–ब्रह्मसत्ता, 'तल्लयेऽपि' तस्मिन्=ब्रह्मणि, मुक्तात्मनो लयेऽपि, 'तथाविधैव'=विचटनहेतुरेव, 'तद्वदेव'=एकवारमिव, 'भूयः'= पुन', 'पृथक्त्वापत्तिः'=विचटनप्रसङ्ग इति।

(ल०–) एवं हि भूयो भवभावेन न सर्वथा जितभयत्वं, सहजभवभावव्यवच्छित्तौ तु तत्तत्स्वभावतया भवत्युक्तवत् शक्तिरूपेणापि सर्वथा भयपरिक्षय इति निरुपचरितमेतत्।

(पं०–) तत किम्? इत्याह 'एवं'=भूय' पृथक्त्वापत्त्या, 'हिः'=यस्माद्, 'भूयो भवभावेन' =पुन. ससारापत्त्या, 'न'=नैव, 'सर्वथा' शक्तिक्षयेणापि, 'जितभयत्वम्' उक्तरूप, यथा स्यात्तदाह (प्र० तथाह) 'सहजभवभावव्यवच्छित्तौ तु', सहजस्य–ब्रह्मविचटनादे' कुतोऽप्यप्रवृत्तस्य जीव–तुल्यकालभाविनो, भवभावस्य = ससारपर्यायस्य, व्यवच्छित्तौ = क्षये, पुन किम्? इत्याह 'तत्तत्स्वभावतया', तस्याः = सहजभवभावव्यवच्छित्ते (तत्स्वभावतया=) जितभयत्वस्वभावतया 'भवत्येतदि'त्युत्तरेण सह सबन्ध', कीदृगमित्याह 'निरुपचरितं'=तात्त्विक, कुत इत्याह 'उक्तवत्'=प्रागुक्तशिवाचलादिस्थानप्राप्तिन्यायेन, 'शक्तिरूपेणापि'=भययोग्यस्वभावेनापि, किं पुन' साक्षाद् भयभावेन, अत एवाह 'सर्वथा'=सर्वप्रकारै, 'भयपरिक्षयो'=भयनिवृत्ति, 'इति'=अस्माद्धेतो', 'एतत्' जितभयत्वमिति।

(ल०–पृथग्भावः शुद्धब्रह्मत अशुद्ध तो वा?–)न'सकृद्विचटनस्वभावत्वकल्पनयाऽद्वैतेऽप्येवमेवादोष' इति न्याय्यं वचः, अनेकदोषोपपत्तेः। तथाहि–तद्विचटनं शुद्धादशुद्धाद्वा ब्रह्मणः? इति निरूपणीयमेतत्। शुद्धविचटने कुतस्तेषामिहाशुद्धिः? अशुद्धविचटने तु तत्र लयोऽपार्थक'।

(पं०) अत्रैव परमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह 'न'=नैव, 'सकृद्विचटनस्वभावत्वकल्पनया' एकवार परमब्रह्मण' सकाशाद्विभक्तिभावस्वभावत्वकल्पनया, 'अद्वैतेऽपि' परमब्रह्मलक्षणे, किं पुन द्वैते, 'एवमेव'=भवदभ्युपगमन्यायेनैव, 'अदोष.'=उपचरितं जितभयत्वमेवंलक्षणदोषाभावः, 'इति'=एवरूपं, 'न्याय्यं'–न्यायानुगतं, 'वचो'=वचनम्। कुत इत्याह 'अनेकदोषोपपत्तेः'। तामेव भावयति 'तथाही'ति

पूर्वोक्तभावनार्थः । 'तत्र'=सकृद्, 'विचटनं'=विभागो, ब्रह्मण सकाशात् क्षेत्रविदामितिगम्यते, 'शुद्धात्' =सकलदोषरहिताद्, 'अशुद्धाद्'=इतररूपात्, 'वा'शब्दो विकल्पार्थः, 'ब्रह्मणः'=परमपुरुषाद्द्वैतरूपात् 'पुरुष एवेदमि'त्यादिवेदवाक्यनिरूपितात्, 'इति'=एवं, 'निरूपणीयं'=पर्यालोच्यम्, 'एतत्'=सकृद्विचटनं, प्रकारद्वयेऽपि दोषसम्भवात्। दोषमेव दर्शयति ('शुद्धविचटने'=) शुद्धाद् ब्रह्मणो विचटने, 'कुतः?' न कुतश्चिदित्यर्थः 'तेषां'=क्षेत्रविदाम्, 'इह'=संसारे, 'अशुद्धिः,' यत्क्षयार्थं यमनियमाभ्यासो योगिनामिति 'अशुद्धविचटने तु'=अशुद्धाद्विचटने पुनः, 'तत्र'=ब्रह्मणि, 'लये'उक्तरूपे 'अपार्थकः'=निरर्थकः, तद-शुद्धिगम्यस्य क्लेशस्य तत्रापि मुक्तानां प्राप्ते ।

(ल०–अंशलयेऽपि नाद्वैतं) न चैवमेकमविभागं च तदिति, अनेकत्वे च परमताङ्गीकरणमेव, तद्विभागानामेव नीत्या आत्मत्वादिति । एतेन यदाह

(प०–)तदभ्युपगमेनापि ब्रह्म दूषयन्नाह 'न च'=नैव, 'एवं'=परमब्रह्मणः क्षेत्रज्ञानां विघटने लये च, 'एकम्'=अद्वितीयम्, 'अविभागं च'=निरवयव 'तत्'=परमब्रह्म, 'इति' किन्तु ? विपर्यय इति । एवमपि किम् इत्याह–'अनेकत्वे च' क्षेत्रज्ञापेक्षया परमब्रह्मणः, 'परमताङ्गीकरणमेवा'भ्युपगतं स्यात् । कुत इत्याह 'तद्विभागानामेव', तस्य=परमब्रह्मणः आत्मसामान्यरूपस्य, 'विभागानां'=व्यक्तिरूपाणां (एव), 'नीत्या'=युक्त्या, 'आत्मत्वात्'=क्षेत्रज्ञत्वात् । 'एतेन'=ब्रह्मनिरासेन, 'यदाह' कश्चिदेतत् तदपि प्रतिक्षिप्तमिति योगः । उक्तमेव दर्शयति,

(ल०–अद्वैतश्लोकाः) परमब्रह्मण एते क्षेत्रविदोंऽशा व्यवस्थिता वचनात् ।
वह्निस्फुलिङ्गकल्पाः समुद्रलवणोपमास्त्वन्ये ॥ १ ॥
सादिपृथक्त्वममीषामनादि वाऽहेतुकादि वा चिन्त्यम् ।
युक्त्या ह्यतीन्द्रियत्वात् प्रयोजनाभावतश्चैव ॥ २ ॥
कूपे पतितोत्तारणकर्त्तुस्तदुपायमार्गणं न्याय्यम् ।
'ननु पतितः कथमय'मिति, हन्त ! तथादर्शनादेव ॥ ३ ॥
भवकूपपतितसत्त्वोत्तारणकर्त्तुरपि, युज्यते ह्येवम् ।
तदुपायमार्गणमलं वचनाच्छेषव्युदासेन ॥ ४ ॥
एवं चाद्वैते सति वर्णविलोपाद्यसङ्गतं नीत्या ।
ब्रह्मणि वर्णाभावात् क्षेत्रविदां द्वैतभावाच्च ॥ ५ ॥ इत्यादि ।

(प०–) 'परमब्रह्मे'त्यादिरार्या । 'परमब्रह्मणः' पुरुषाद्वैतलक्षणस्य, 'एते शास्त्रलोकसिद्धाः', 'क्षेत्रविदो=जीवाः, 'अंशा'=विभागाः, 'व्यवस्थिताः'=प्रतिष्ठिताः । कुतः प्रमाणादित्याह 'वचनाद्'=आगमात् । ते च द्विधा इत्याह 'वह्निस्फुलिङ्गकल्पाः' पृथगेव विघटनेन संसारिणः, 'समुद्रलवणोपमास्त्वन्ये'=यथा समुद्रे लवणमपृथगेव लीनतया व्यवस्थितम्, एवं मुक्तात्मानः प्राग्विघटनात् संसारिणोऽपि ब्रह्मणीति ॥ १ ॥ 'सादी'त्याद्यार्यात्रय सुगममेव, परं 'हन्त तथादर्शनादेवे' ति हन्तेति प्रत्यवधारणे, प्रत्यवधारयत (प्र०–प्रत्यवधारणीयं) तथादर्शनादेव=कूपपतनकारणविचारणमन्तरेणोत्तारणोपायमार्गणस्यैव दर्शनात् । 'शेषव्युदासेने' ति=वचनव्यतिरिक्तप्रमाणपरिहारेण साधनादिविघटनविचारपरिहारेण वा ॥ २-४ ॥ 'एवं चे'त्यादिरार्या, 'एवमि'ति=वचनप्रमाणत 'चः' समुच्चये, 'अद्वैते'=आत्मनामेकीभावे सति, 'वर्णविलोपादि', वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रलक्षणास्तेषां, विलोपः=प्रतिनियतस्वाचारपरिहारेण परवर्णाचारकरणम्, 'आदि' ग्रहणात् स्वाचारपराचारानुवृत्तिरूपसंकर (प्र० . रूपसङ्कार.), 'असङ्गतम्'=अयुक्त, 'नीत्या'=न्यायेन । तामेवाह 'ब्रह्मणि' परमपुरुषलक्षणे, 'वर्णाभावात्'=ब्राह्मणादिवर्णविभागाभावात् । मा भूद् ब्रह्मणि वर्णविभाग, तदंशभूतेष्वात्मसु भविष्यतीत्याशङ्क्याह, 'क्षेत्रविदां द्वैतभावाच्च', क्षेत्रविदोऽपि मुक्तामुक्तभेदेन द्वैविध्यमेवाश्रिताः,

अतस्तेष्वपि न वर्णविभागो, अत॰ कथमसत्यां वर्णव्यवस्थाया वर्णविलोपादि तात्त्विकमिति ॥ 'इत्यादिः'= एवमाद्यन्यदपि वचनं गृह्यते ।

(ल०—अद्वैतखण्डनम्) एतदपि प्रतिक्षिप्तं, श्रद्धामात्रगम्यत्वाद् , दृष्टेष्टाविरुद्धस्य वचनस्य वचनत्वाद्, अन्यथा ततः प्रवृत्त्यसिद्धेः, वचनानां बहुत्वात्, मिथो विरुद्धोपपत्तेः, विशेषस्य दुर्लक्षत्वात्, एकप्रवृत्तेरपरबाधितत्वात् , तत्त्यागादितरप्रवृत्तौ यदृच्छा, वचनस्याप्रयोजकत्वात् तदन्तरनिराकरणादिति ।

(पं०—) 'एतदपि'=अनन्तरोक्तम् (अपि), किं पुन॰ 'परम्परोक्त प्राच्य(प्र० प्रोच्य)मिति 'अपि'-शब्दार्थ, 'प्रतिक्षिप्तं'=निराकृतं, कुत इत्याह 'श्रद्धामात्रगम्यत्वात्'=रुचिमात्रविषयत्वात् । ननु वचनादिसुक्तं, तत्कथमित्थमुच्यत इत्याह 'दृष्टे'त्यादि 'दृष्टेष्टाविरुद्धस्य', दृष्टम्=अशेषप्रमाणोपलब्धम्, इष्टं= वचनोक्तमेव, तयोरविरोधेन अविरुद्धस्य, 'वचनस्य'=आगमस्य 'वचनत्वाद्'=आगमत्वात् । कुत इत्याह 'अन्यथा'=उक्तलक्षणविरहे, 'ततो'=वचनात्, 'प्रवृत्त्यसिद्धेः'—हेयोपादेययोर्हानोपादानासिद्धे, कुत इत्याह 'वचनानां' शिवसुगत(प्र० .. शिवसुत)सुरगुरुप्रभृतिप्रणीतानां, 'बहुत्वाद्' व्यक्तिभेदेनैव, ततः किमित्याह 'मिथः'=परस्पर, 'विरुद्धोपपत्तेः'=नित्यानित्यादिविरुद्धार्थाभिधानात् । तर्हि विशिष्टादेव ततः प्रवृत्तिरित्याह 'विशेषस्य' दृष्टेष्टाविरोधलक्षणस्य, विचारमन्तरेण 'दुर्लक्षत्वात्' । सर्ववचनेभ्यो युगपत्प्रवृत्तिरसम्भविन्येवेति एकत एव ततः प्रवर्त्तितव्यं, तत्र च 'एकप्रवृत्तेः'='एकतो' वचनात् 'प्रवृत्तेः' उक्तलक्षणाया , 'अपरबाधितत्वाद्'=अपरेण वचनेन निराकृतत्वात् । तत॰ किमित्याह 'तत्त्यागाद्'=बाधकवचनत्यागाद्, 'इतरप्रवृत्तौ'= बाध्यमानवचनप्रवृत्तौ, यदृच्छा=स्वेच्छा । कथमित्याह 'वचनस्य' कस्यचिद्, अप्रयोजकत्वाद=अप्रवर्तकत्वाद्, एतदपि कुत इत्याह 'तदन्तरनिराकरणात्', तदन्तरेण=वचनान्तरेण, सर्ववचनाना निराकरणात् ।

(ल०—) न ह्यदुष्टं ब्राह्मणं प्रव्रजितं वा अवमन्यमानो दुष्टं वा मन्यमानः तद्भक्त इत्युच्यते । न च दुष्टेतरावगमो विचारणमन्तरेण, विचारश्च युक्तिगर्भ इत्यालोचनीयमेतत् ।

(पं०—) भवतु नाम वचनानां विरोधस्तथापि वचनबहुमानात् प्रवृत्तस्य यत॰ कुतोऽपि वचनादिष्टसिद्धिर्भविष्यतीत्याशङ्क्य व्यतिरेकतः प्रतिवस्तूपन्यासमाह—'न'=नैव , 'हिः'=यस्माद्, 'अदुष्टम्'=अनपराधं, 'ब्राह्मणं'=द्विजं, 'प्रव्रजितं वा'=भागवतादिकम्, 'अवमन्यमानः'=अनाद्रियमाणो, 'दुष्टं वा'=सदोषं, 'मन्यमानो'=वचनकरणादिना, 'तद्भक्तो'=ब्राह्मणभक्त प्रव्रजितभक्तो वा, 'इति'=एवम्, 'उच्यते' कुशलै॰, अतोऽदुष्टभक्त एव ब्राह्मणादिभक्त॰, एवमत्रापि योजना कार्या एव तर्ह्यदुष्टात् तत॰ प्रवर्त्तिष्यत इत्याशङ्क्याह, 'न च' 'दुष्टेतरावगमो'=दुष्टादुष्टयोरवगमो 'विचारमन्तरेण' अतो विचार आश्रयणीयो, 'विचारश्च युक्तिगर्भो' न च युक्तिः प्रमाणं, परमते वचनमात्रस्यैव प्रमाणत्वाभ्युपगमात् 'इति'=एवं ब्राह्मणादिन्यायेन 'आलोचनीयमेतद्'—वचनमात्रप्रवर्त्तनमिति ।

(ल०—कूपपतितदृष्टान्तोऽसन्) कूपपतितोदाहरणमप्युदाहरणमात्रम् न्यायानुपपत्तेः, तदुद्भूतादेरपि तथादर्शनाभावात् (प्र० तथादर्शनभावात), तत्र चोत्तारणे दोषसंभवात् तथाकर्तुमशक्यत्वात्, प्रयासनैष्फल्यात् ।

(पं०–) तदुद्धृतेत्यादि:, 'तदुद्धृतादेरपि' तस्मिन्=कूपे, 'उद्धृतो'=मत्स्यादि:, आदि शब्दादतद्गतोऽपि प्रयोजनवशात् तत्रैव बद्धस्थिति:, तस्यापि, 'तथादर्शनाभावात्'=पतनकारणमविचार्य्यैवोत्तारणोपायमार्गण-स्यानवलोकनात् । एवं च तथादर्शनादितिहेतोः प्रागुक्तस्य प्रतिज्ञैकदेशासिद्धतेति । अथ तदुद्भूतादिरप्युत्तार-यिष्यते ततो न हेतोः प्रतिज्ञैकदेशासिद्धता इत्याह 'तत्र च'=तदुद्भूतादेरपि उत्तारणे, 'दोषसम्भवात्'=मरणा-धनर्थसम्भवात्, 'तथे'ति हेत्वन्तरसमुच्चये, 'कर्त्तुम्' उत्तारणस्य तदुद्भूतादेः, 'अशक्यत्वात्', हेतुमाह 'प्रयासनैष्फल्यात्,' 'प्रयासस्य'–प्रयत्नस्य, 'नैष्फल्याद्'=उत्तारणीयोत्तारलक्षणफलाभावात् ।

(ल०–विचारणं युक्तम्) न चोपायमार्गणमपि न विचाररूपं तदिहापि विचारोऽनाश्रयणीय एव; दैवायत्तं च तद् , अतीन्द्रियं च दैवमिति युक्तेरविषयः, शकुनाद्यागमयुक्तिविषयतायां तु समान एव प्रसङ्ग इतरत्रापीति ।

(पं०–) अभ्युच्चयमाह 'न च'=नैव, 'उपायमार्गणमपि' उत्तारणोपायगवेषणमपि परोपन्यस्तं न विचाररूपं किन्तु विचाररूपमेव । यदि नामैवं ततः किम् ? इत्याह 'तत्'=तस्माद्, 'इहापि'=उत्तारणोपाये (अपि) आस्तां तावत्प्रकृतवचनार्थे, 'विचारो'=विमर्शः, 'अनाश्रयणीय एव'=न विधेय एव परमते । अथा-तीन्द्रियत्वाद् युक्तेरविषयो वचनार्थः, इद च कूपपतितोत्तारणं तथाविधं न भविष्यतीत्याशङ्क्याह 'दैवायत्तं च'= कर्म्माधीनं (च), 'तद्'=उत्तारण, तत किमित्याह 'अतीन्द्रियं च'=इन्द्रियविषयातीत च तदुत्तारणहेतुः 'दैवं'= कर्म्म, 'इति'=अस्माद्धेतो', 'युक्ते'=विचारणस्य, 'अविषयो', भवन्मतेन वचनमात्रस्यैव विषयत्वात् । कथं तत्र सम्यगविज्ञाते तदायत्तायोत्तारणाय प्रवृत्तिरिति पुनरप्यभिप्रायान्तरमाशङ्क्याह 'शकुनाद्यागमयुक्तिविषयतायां तु' शकुनाद्यागमश्च, 'आदि' शब्दाद् ज्योतिष्काद्यागमग्रहो, युक्तिश्च विचार', तद्विषयताया तु दैवस्यानुकूलेतररूपस्य, 'समान एव प्रसङ्गः' 'इतरत्रापि'=परमब्रह्मादावतीन्द्रिये वचनार्थे । तदपि युक्त्यागमाभ्या विचारयितु प्रयुज्यत इत्ययुक्तमुक्तं प्राक् 'सादिपृथक्त्वममीषामनादि चे'त्यादि । 'इतिः' प्रक्रमसमाप्त्यर्थ. ।

(ल०–त्रिकोटिशुद्धविचारः) तस्माद्यथाविषयं त्रिकोटिपरिशुद्धविचारशुद्धितः प्रवर्त्तितव्यमिति उक्तं च

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च । त्रिधा प्रकल्पयन्प्रज्ञां लभते तत्त्वमुत्तमम् ॥१॥
आगमश्चोपपत्तिश्च संपूर्णं दृष्टिलक्षणम् । अतीन्द्रियाणामर्थानां सद्भावप्रतिपत्तये ॥२॥
आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षयाद्विदुः । वीतरागोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्धेत्वसंभवात् ॥३॥
तच्चैतदुपपत्त्यैव प्रायशो गम्यते बुधैः । वाक्यलिङ्गा हि वक्तारः सद्वाक्यं चोपपत्तिमत् ॥४॥

इत्यल प्रसगेन । (प०–) 'तस्मात्'=वचनमात्रस्याप्रामाण्यात् 'यथाविषय'=कषादिसर्वविषयान-तिक्रमेण, 'त्रिकोटिपरिशुद्धविचारशुद्धितः'=तिसृभि कष-छेदतापलक्षणाभिरादिमध्यावसानाविसंवाद-लक्षणाभिर्वा कोटिभिः, 'परिशुद्धो=निर्दोषो यो 'विचारो' = विमर्श, तेन या 'शुद्धि.' = वचनस्य निर्दोषता, तस्या सकाशात् 'प्रवर्तितव्य' हेयोपादेययोः ।

(ल०– बहुनमस्कारे लाभ') तदेवमर्हता बहुत्वसिद्धिः, विषयबहुत्वेन च नमस्कर्त्तुः फलातिशयः सदाशयस्फातिसिद्धे आह–'एकया क्रियया अनेकविषयीकरणे, कैवाशयस्फाति ॥१॥'

नन्वियमेव यदकया अनेकविषयीकरणं, विवेकफलमेतत् । आह–'एवं ह्येकक्रिययानेकसन्माननं बहुब्राह्मणैकरूपकदानतुल्यं, तत् कथं नाल्पत्वम् ?' । उच्यते, क्रियाभेदभावात्, सा हि रत्नावलीदर्शनक्रियेव एकरत्नदर्शनक्रियातो भिद्यते, हेतुफलभेदात्–सर्वार्हदालम्बनेयमिति हेतुभेदः, प्रमोदातिशयजनिकेति च फलभेदः,–कथमित्यमल्पत्वम् ? ब्राह्मणैकरूपकदानोदाहरणं त्वनुपन्यसनीयमेव, रूपकादिव नमस्काराद् ब्राह्मणानामिवार्हतामुपकारायोगात् ।

(ल०- नमस्कारफलं भगवद्भ्यः कथं ?–) कथं तर्हि तत्फलमिति ? उच्यते तदालम्बनचित्तवृत्तेः, तदाधिपत्यतः तत एव तद्भावात् , चिन्तामणिरत्नादौ तथादर्शनादिति वक्ष्यामः ।

कथमेकया पूजया सर्वपूजाविधानं ? तथा चागमः 'एगम्मि पूइयंमि सव्वे ते पूइया होंति ।' अस्ति एतद् विशेषविषयं तु तुल्यगुणत्वज्ञापनेनैषामनुदारचित्तप्रवर्त्तनार्थं, तदन्येषां सर्वसम्पत्परिग्रहार्थं, सङ्घपूजादावाशयव्याप्तिप्रदर्शनार्थं च । एवंभूतश्चायमाशय इति । तदापरागतहर्षादिलिङ्गसिद्धेर्भावश्रावकस्य विज्ञेय इति । एवमात्मनि गुरुषु च बहुवचनमित्यपि सफलं वेदितव्यं, तत्तुल्यापरगुणसमावेशेन तत्तुल्यानां परमार्थेन तत्त्वात् , कुशलप्रवृत्तेश्च सूक्ष्माभोगपूर्वकत्वात् । अतिनिपुणबुद्धिगम्यमेतदिति पर्याप्तं प्रसङ्गेन ।

(पं०–) 'तदालम्बनचित्तवृत्तेः', इति=भगवदालम्बनचित्तवृत्तेर्नमस्काररूपायाः, 'तत्फलमि'ति सम्बध्यते । नन्वेवं तर्हि न तद् भगवद्भ्य इत्याशङ्क्याह 'तदाधिपत्यतो'=भगवदाधिपत्यतो=भगवन्त एव तच्चित्तवृत्तेस्तज्जनकहेतुषु प्रधानत्वेनाधिपतयः ततः, 'तत एव'=भगवद्भ्यः एव, 'तद्भावात्'=क्रियाफलभावात् । कथमित्याह 'चिन्तामणिरत्नादौ तथादर्शनात्' = चिन्तामण्यादि(प्र० मण्यादौ)प्रणिधानादेर्भवत् फलं चिन्तामणिरत्नादेर्भवतीति लोके प्रतीतिदर्शनात् । 'अनुदारे'त्यादि, 'अनुदारचित्तप्रवर्त्तनार्थम्'=अनुदारचित्तो हि कार्पण्यात्सर्वपूजा कर्तुमशक्नुवन्नैकमपि पूजयेद्, अतस्तत्प्रवर्त्तनार्थमुच्यते 'एगंमी'त्यादि । द्वितीय कारणमाह 'तदन्येषां'=पूज्यमानादन्येषां भगवता, 'सर्वसम्पत्परिग्रहार्थं' च, सर्वाः=निरवशेषा , सम्पदः=स्तोतव्यहेतुसपदादय उक्तरूपास्तासामवबोधनार्थं च । तेऽपि परिपूर्णसम्पद एवेति भाव. । 'सङ्घपूजादौ'=सङ्घचैत्यसाधुपूजादौ आशयव्याप्तिप्रदर्शनार्थं चेति तृतीय कारणमिति । 'एवंभूतश्च'=व्यापकश्च, 'अयं'=सङ्घादिपूजाविषय आशयः, कुत इत्याह 'इति'=एवं, यथा एकस्मिन् पूज्यमाने तथा 'तदा'=एकपूजाकाले, 'अपरागतहर्षादिलिङ्गसिद्धे ' 'अपरेष्व'पूज्यमानेषु सङ्घादिदेशेषु, 'आगतेषु'=तत्कालमेव प्राप्तेषु, तेषु वा विषये 'आगतस्य'=आरूढस्य, हर्षपूजाभिलाषादिलिङ्गस्य सिद्धे'भावश्रावकस्य विज्ञेयो' न त्वन्यथा, तथाविधविवेकाभावेन पूज्यमानव्यतिरेकेणान्येषु हर्षादिलिङ्गाभावात् । 'कुशलप्रवृत्ते'रिति, 'कुशलानां'=बुद्धिमतां, 'प्रवृत्ते '=एगम्मि पूइयंमीत्यादिकायाः ।

(ल०–) नमो जिनेभ्यो जितभयेभ्य इति । सर्वज्ञसर्वदर्शिनामेव शिवाचलादिस्थानसंप्राप्तेर्जितभयत्वाभिधानेन प्रधानगुणापरिक्षयप्रधानफलाप्त्यभयसम्पदुक्तेति ॥९॥

संपदां सोपपत्तिकत्व-सप्रमावत्वे

(ल०-संपदां सोपपत्तिकत्वम्) (१) इह चादौ प्रेक्षापूर्वकारिणां प्रवृत्त्यङ्गत्वात्, अन्यथा तेषां प्रवृत्त्यसिद्धेः प्रेक्षापूर्वकारित्वविरोधात्, स्तोतव्यसम्पदुपन्यासः। (२) तदुपलब्धावस्या एव प्रधानां साधारणासाधारणरूपां हेतुसम्पदं प्रति भवति विदुषां जिज्ञासा, तद्भाजनमेते इति तदुपन्यासः। (३) तदवगमेऽप्यस्या एवासाधारणरूपां हेतुसंपदं प्रति, परंपरया मूलशुद्ध्यन्वेषणपरा एते, इति तदुपन्यासः। (४) तत्परिज्ञानेऽपि तस्या एव सामान्येनोपयोगसंपदं प्रति, परम्परया फलप्रधानारम्भ प्रवृत्तिशीला एते, इति तदुपन्यासः। (५) एतत्परिच्छेदेऽपि उपयोगसंपद एव हेतुसंपदं प्रति, विशुद्धिनिपुणारम्भाजः एते, इति तदुपन्यासः। (६) एतद्बोधेऽपि स्तोतव्यसंपद एव विशेषेणोपयोगसंपदं प्रति, सामान्यविशेषरूपफलदर्शिन एते, इति तदुपन्यासः। (७) एतद्विज्ञानेऽपि स्तोतव्यसंपद एव सकारणां स्वरूपसंपदं प्रति, विशेषनिश्चयप्रिया एते, इति तदुपन्यासः। (८) एतत्संवेदनेऽप्यात्मतुल्य—परफलकर्तृत्वसंपदं प्रति, अतिगम्भीरोदारा एते, इति तदुपन्यासः। (९) एतत्प्रतीतावपि प्रधानगुणापरिक्षयप्रधानफलाप्त्यभयसंपदं प्रति भवति विदुषां जिज्ञासा, दीर्घदर्शिन एते, इति तदुपन्यासः।

(पं०) 'तद्भाजनमेत' इति, तद्भाजनं=जिज्ञासाभाजनम्, एते=प्रेक्षापूर्वकारिणः।

(ल०-अर्हत्संपद्गुणानां प्रभावाः) अनेनैव क्रमेण प्रेक्षापूर्वकारिणां जिज्ञासाप्रवृत्तिरित्येवं संपदामुपन्यासः, एतावत्संपत्समन्विताश्च निःश्रेयसनिबन्धनमेते, एतद्गुणबहुमानसारं विशेषप्रणिधाननीतितस्तत्तद्बीजाक्षेपसौविहित्येन सम्यगनुष्ठानमिति च ज्ञापनार्थम्।

(पं०) 'एतद्गुणेत्यादि, एतद्गुणबहुमानसारम्, एतेषां=स्तोतव्यसंपदादीनां, गुणानां, बहुमानेन=प्रीत्या, सारं, स (एतद्गुणबहुमान) एव वा सारः यत्र, 'तत्सम्यगनुष्ठान भवती'ति संबन्धः। कथमित्याह 'विशेषप्रणिधाननीतितः', विशेषेण=विभागेन, स्तोतव्यसम्पदादिषु गुणेषु प्रणिधानं=चित्तन्यासः, तदेव 'नीतिः'—पणिधीयमानगुणरूपस्वकार्यप्राप्तिहेतु', तस्याः, 'तत्तद्बीजाक्षेपसौविहित्येन', 'तस्य'=चित्ररूपस्य गुणस्यार्हत्त्वभावत्वादेः, बीजं—हेतुः तत्पदावारककर्म्मह्रासस्तदनुकूलशुभकर्म्मबन्धश्च, तस्य आक्षेपः=अव्यभिचारस्तेन, सौविहित्यं=सुविधानं, तेन 'सम्यग्'=भावरूपम्, 'अनुष्ठानमिति च ज्ञापनार्थम्' एतच्च ज्ञापितं भवतीति भावः।

एकानेकस्वभाव-वस्तु-सिद्धिः

(ल०-चित्रसंपद्द्वाराऽनेकान्तसिद्धिः-) एकानेकस्वभाववस्तुप्रतिबद्धश्चायं प्रपञ्च इति सम्यगालोचनीयम्, अन्यथा कल्पनामात्रमेता इति फलाभावः।

(पं०) इयं च चित्रा सपन्न स्याद्वादमन्तरेण संगतिमञ्चतीति तत्सिद्ध्यर्थमाह 'एकानेकस्वभाववस्तु-

प्रतिबद्धश्च'=द्रव्यपर्यायस्वभावार्हल्लक्षणवस्तुनान्तरीयक पुन, 'अयम्'=अनन्तरोक्तः, 'प्रपञ्चः' चित्रसंपदुपन्यासरूपः, 'इति'=एतत्, 'सम्यगालोचनीयम्'=अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यथेद वस्तु सिध्यति तथा विमर्शनीयम्। विपक्षे बाधामाह 'अन्यथा'=एकानेकस्वभावाभावेऽर्हतां, 'कल्पनामात्रं'=कल्पना एव केवला निर्विषयबुद्धिप्रतिभासरूपा, 'एताः'=चित्राः सम्पदः, ततः किमत आह 'इति'=अतः कल्पनामात्रत्वात्, फलाभावः=मिथ्यात्ववत्वेन सम्यगवसाध्यार्थाभावः; न चैव, सफलारम्भिमहापुरुषप्रणीतत्वादासाम् इत्येतदुपन्यासान्यथानुपपत्त्यैव चित्ररूपवस्तुसिद्धिरिति।

(ल०—चित्रवस्तुसिद्धौ प्रयोगदृष्टान्ताः—) एकानेकस्वभावत्वं तु वस्तुनो वस्त्वन्तरसम्बन्धाविर्भूतानेकसंबन्धिरूपत्वेन पितृपुत्रभ्रातृभागिनेयादिविशिष्टैकपुरुषवत्, पूर्वापर-अन्तरितानन्तरित-दूरासन्न-नवपुराण-समर्थासमर्थ-देवदत्तकृतचैत्रस्वामिक लब्धक्रीत-हृ(प्र०...हृ) तादिरूपघटवद्वा। सकललोकसिद्धश्चेह पित्रादिव्यवहारः, भिन्नश्च मिथः, तथाप्रतीतेः। तत्तत्त्वनिबन्धनश्च अत एव हेतोः।

(पं०—) पुनः सामान्येन चित्ररूपवस्तुप्रत्यायनाय प्रयोगमाह-'एकानेकस्वभावत्वं तु वस्तुनः' इति साध्यनिर्देशः, अत्र हेतुमाह 'वस्त्वन्तर' मिति, वस्त्वन्तरैः साध्यधर्मिव्यतिरिक्तैः, यः सम्बन्धः तत्स्वभावापेक्षालक्षणः, तेन आविर्भूतानि अनेकानि=नानारूपाणि, सम्बन्धीनि=सम्बन्धवन्ति रूपाणि स्वभावात् यस्य तत्तथा तस्य भावस्तत्त्वं तेन। दृष्टान्तमाह पितृपुत्रभ्रातृभागिनेयैः, 'आदि' शब्दात् पितृव्यमातुलपितामहमातामहपौत्रदौहित्रादिभिर्जनप्रतीतैः, विशिष्टः=उपलब्धसम्बन्धो यः, एको द्रव्यतया, पुरुषः=तथाविधपुमान्, तस्येव। अस्यैव दृढत्वसंपादनार्थं पुनर्दृष्टान्तान्तरमाह 'पूर्वे'त्यादि, तत्तदपेक्षया पूर्वापरादिपञ्चदशरूपः। 'आदि' शब्दादणुमहदुच्चनीचाद्यनेकरूपश्च यो घटस्तस्येव वा एकानेकस्वभावत्वमिति। हेतुसिद्ध्यर्थमाह 'सकललोकसिद्धश्च' अविगानेन प्रवृत्तेः, 'इह'=जगति, 'पित्रादिव्यवहारः' तथाविधाभिधानप्रत्ययप्रवृत्तिरूपः। 'भिन्नश्च'=पृथक् (च), 'मिथः'=परस्परम्, अन्यो हि पितृव्यवहारोऽन्यश्च पुत्रादीनाम्। कुत इत्याह 'तथा'=मिथो भिन्नतया, 'प्रतीतेः'=सर्वत्र सर्वदा सर्वैः प्रत्ययात् 'तत्तत्त्वनिबन्धनश्च', तस्य पित्रादितया व्यवहरणीयस्य, तत्त्वं पित्रादिरूपत्वं, निबन्धन यस्य स तथा, चकार उक्तसमुच्चये। एतदपि कुत इत्याह 'अत एव'=तथाप्रतीतेरेव हेतोः। न च सम्यक्प्रतीतिरप्रमाणं सर्वत्रानाश्वासप्रसङ्गात्।

(ल०—व्यवहारो न वासनामूलकः—) 'वासनाभेदादेवायमि'त्ययुक्तं, तासामपि तन्निबन्धनत्वात्। 'नैकस्वभावादेव ततस्ता इति', रूपाद् रसादिवासनापत्तेः।

(पं०—) अत्रैव पराकूत निरस्यन्नाह 'वासनाभेदादेव'=व्यवहर्तृवासनावैचित्र्यादेव, न पुनश्चित्रैकस्वभावत्वाद्वस्तुनः, 'अयं'=पितृपुत्रादिव्यवहारो दृष्टान्ततयोपन्यस्तः, 'इति'=एतत्सुगतशिष्यमतम्, 'अयुक्तम्'=असङ्गतम्। ते हि निरंशैकस्वभावं प्रतिक्षणभङ्गवृत्ति वस्तु प्रतिपन्नाः, इति न तदालम्बनोऽयमेकस्मिन्नपि स्थिरानेकस्वभावसमर्पकः पितृपुत्रादिव्यवहार, किन्तु प्रतिनियतव्यवहारार्थिकुशलकल्पितसङ्केताहितविचित्रवासनापरिपाकतः कल्पितकथाव्यवहारवद् असद्विषय एव प्रवर्त्तते इति। कुतोऽयुक्तत्वमित्याह 'तासामपि'=वासनानां, न केवलं

व्यवहारस्य, 'तन्निबन्धनत्वाद्'=व्यवह्रियमाणवस्तुनिबन्धनत्वाद्, अतन्निबन्धनत्वे 'नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वे'त्यादिप्रसङ्गात्। एवमपि किमित्याह 'नैकस्वभावादेव'=नैकान्तैकरूपादेव, 'ततो'=व्यवहारविषयवस्तुन, 'ताः'=पित्रादिवासना इति। विपर्यये बाधकमाह 'रूपात्'=कृष्णनीलादेर्वर्णात्, 'रसादिवासनापत्तेः'=रसस्पर्शादिविचित्रवासनापत्तेः, एकस्वभावादपि परैरेवानेकवासनाभ्युपगमात्।

(ल० स्वभावमात्रमनुत्तरम्:-) 'जातिभेदतो नैतदि'त्यप्ययुक्तं, नीलात् पीतादिवासनाप्रसङ्गात्। 'तत्तत्स्वभावत्वान्नैतदि'त्यप्यसत्, वाङ्मात्रत्वेन युक्त्यनुपपत्तेः। न हि नीलवासनायाः पीतादिवत् पित्रादिवासनाया न भिन्नः पुत्रादिवासनेति निरूपणीयम्।

(पं०)-परिहारान्तरमाशङ्क्याह 'जातिभेदतो'=रूपरसादिजातिविभागतो, 'नैतद्'=न रूपाद् रसादिवासनापत्तिः। अत्यन्तभिन्ने हि रूपजाते रसादिजातिः, कथमिव ततो रसादिवासनाप्रसङ्ग इति। तदप्ययुक्तं, कुत इत्याह'नीलाद्'=रूपविशेषाद् रूपत्वेनाभिन्नजातीयात्, 'पीतादिवासनाप्रसङ्गाद्'=द्रष्टुः पीतरक्तादिजातीयवासनाप्रसङ्गात्। परिहारान्तरापोहायाह 'तत्तत्स्वभावत्वात्', तस्य=नीलादेः, तत्स्वभावत्वात्=पीतादिवासनानां सजातीयानामप्यजननस्वभावत्वात् नीलादिवासनाया एव जननस्वभावत्वात्। न च स्वभावः पर्यनुयोगार्हः, 'अग्निर्दहति नाकाशं, कोऽत्रपर्यनुयुज्यते' इति। 'न'=नैव, 'एतत्'=नीलात्पीतादिवासनाजन्मप्रसञ्जनम् 'इति'=एतदपि, परिहारान्तरम्, 'असत्'=असुन्दर, कुत इत्याह 'वाङ्मात्रत्वेन'=वाङ्मात्रमेवेदमिति, 'युक्त्यनुपपत्तेः'। तामेव भावयति 'न हि नीलवासनायाः' सकाशात्, 'पीतादिवत्'=पीतरक्तादिवासनावत् 'पित्रादिवासनायाः'=पित्रादिवासनामपेक्ष्य, 'न भिन्ना'=न पृथक्, पुत्रादिवासना, किन्तु भिन्नैवेति। 'इति'=एतद्, 'निरूपणीयं' सूक्ष्माभोगेन। यथा नीलादि दृष्ट सद् नीलादिस्ववासनामेव (प्र० . स्वभावामेव) करोति, न भिन्नां पीतादिवासनामपि, तथैकस्वभाव वस्तु पित्रादिवासनामेकामेव कुर्यात्, न तद्व्यतिरिक्तामन्यां पुत्रादिवासनामपीति।

(ल०—उपादानमात्रमनियामकम्:-) नोपादानभेदोऽप्यत्र परिहारः, एकस्यानेकनिमित्तत्वायोगात्।

(पं०) पुनराशङ्काशेषपरिहारायाह 'न'= नैव, 'उपादानभेदोऽपि'= न केवलं व्यवहरणीयपित्रादिनिमित्तो वासनाभेदः किन्तु व्यवहारकोपादानकारणविशेषोऽपि, वासनाभेदहेतुः,' अत्र'=एकस्वभावे वस्तुनि अनेकव्यवहारासाङ्कर्ये प्रेरिते, 'परिहार.'=उत्तरम्। परो हि पुत्रादेर्वासनाभेदनिमित्तत्वे प्रतिहते सति कदाचिदिदमुत्तरमभिदध्यात् यदुत "येयमेकस्मिन्नपि देवदत्तादावनेकेषां त प्रति पितृपित्रादिरूपतया व्यवस्थितानां या पुत्रादिवासनाप्रवृत्ति, सा तेषामेव स्वसन्तानगतमनस्कारलक्षणोपादानकारणभेदनिबन्धना, न व्यवह्रियमाण—वस्तुस्वभावभेदनिमित्तेति", एतदपि अनुत्तरमेव। कुत इत्याह 'एकस्य' देवदत्तादेः, 'अनेकनिमित्तत्वायोगात्'=अनेकेषा पितृ—पुत्रादिव्यवहर्तॄणा सहकारिभावायोगात्। ते हि तमेकं सहकारिणमासाद्य उपादानभेदेऽपि तथावासनावन्तो भवन्ति, न च तस्य तदनुगुणतावत्स्वभावदरिद्रस्यानेकसहकारित्वं युक्तम्।

(ल०-अभ्युपगमविरोधः-) न दर्शनादेवाविरोधः इति, अभ्युपगमविचारोपपत्तेः। न च सोऽप्येवं न विरुध्यत एव, तदेकस्वभावत्वेन विरोधात्।

(पं०–)अथ स्यात् 'न हि दृष्टेऽनुपपन्नं' नाम; दृश्यते हि एकस्मिन्नविभागवति सहकारिणि स्वोपादानभेदादनेकवासनाप्रवृत्तिः' एतत्परिहारायाह 'न'=नैव, 'दर्शनादेव' प्रत्यक्षज्ञानरूपात् केवलाद् 'अविरोधः' प्रस्तुतवासनाभेदस्य 'इति'; कुत इत्याह 'अभ्युपगमविचारोपपत्तेः', अभ्युपगमो हि विचारयितुमुपपन्नो, न दर्शनम् । यद्येवं ततः किमित्याह 'न च'=नैव, 'सोऽपि' अभ्युपगमः 'अपिशब्दाद् दर्शनं च, 'एवम्'=एकस्यानेकसहकारित्वाभ्युपगमे न विरुध्यत एव, किन्तु विरुध्यत एव । कथमित्याह 'तदेकस्वभावत्वेन'–व्यवह्रियमाणवस्तुनो निरंशैकस्वभावत्वेन, 'विरोधाद्'=निराकरणाद्, अनेकसहकारित्वाभ्युपगमस्य तस्यानेकस्वभावाक्षेपकत्वात् (प्र० ... भावापेक्षित्वात्) ।

(ल०–अनेकान्तपक्षेऽदूषणम्–) न चैकानेकस्वभावेऽप्ययमिति, तथादर्शनोपपत्तेः । न हि पितृवासनानिमित्तस्वभावत्वमेव पुत्रवासनानिमित्तस्वभावत्वं, नीलपीतादावपि तद्भावापत्तेरिति परिभावनीयमेतत् ।

(पं०–) अथानेकान्तेऽप्येकान्तपक्षदूषणप्रसङ्गपरिहारायाह 'न च'=नैव 'एकानेकस्वभावेऽपि' अनेकान्तरूपे, एकान्तरूपे विरोध एवेति 'अपि' शब्दार्थः, 'अयमिति'=व्यवहारविरोध इति । कुत इत्याह 'तथादर्शनोपपत्तेः'=यथा वस्तु (प्र०... स्व)भ्युपगत तथादर्शनेन व्यवहारस्य 'उपपत्तेः'=घटनात् । तामेवाह 'न हि पितृवासनानिमित्तस्वभावत्वमेव', एकानेकस्वभावे वस्तुनि, 'पुत्रवासनानिमित्तस्वभावत्वं', स्वभाववैचित्र्यादारिर्द्र्यात् । विपक्षे बाधामाह 'नीलपीतादावपि' विषये, 'तद्भावापत्तेः'=नीलवासनानिमित्तस्वभावत्वमेव पीतादिवासनानिमित्तस्वभावत्वमित्याद्यापत्तेः 'इति' । 'भावनीयं'=परिभावनीयम् 'एतत्', यदुत 'एकमेव' वस्तु विचित्रवासनावशेन (प्र०. ..वासनाधानेन) विचित्रव्यवहारप्रवृत्तिहेतुरिति ।' न भवतीत्यर्थः; अन्यथा तत एव सर्वव्यवहारसिद्धेः किं जगद्वैचित्र्याभ्युपगमेन ?

(ल०–एकान्तपक्षे केषाञ्चित्कार्याणामहेतुकत्वापत्तिः–) एवम् उभयथापि उपादाननिमित्तभेदेन न सर्वथैकस्वभावादेकतोऽनेकफलोदयः केषाञ्चिदहेतुकत्वापत्तेः, एकस्यैकत्रोपयोगेनापरत्राभावात् ।

(पं०–) प्रकृतसिद्धिमाह 'एवम्'=उक्तनीत्या, 'उभयथापि'=प्रकारद्वयेनापि, तदेवाह 'उपादाननिमित्तभेदेन'=उपादानभेदेन, निमित्तभेदेन च, 'न'=नैव, 'सर्वथैकस्वभावतः'=एकान्तैकस्वभावात्, 'एकतः'=एकस्माद्धेतोः, 'अनेकफलोदयः', अनेकस्य ऐहिकामुष्मिकरूपस्य, फलस्य=कार्यस्य, (उदय)= प्रसवः, यथा परैः परिकल्प्यते । तेषां हि किल,–"रूपालोकमनस्कारचक्षुर्लक्षणा रूपविज्ञानजननसामग्री; यथोक्तं 'रूपालोकमनस्कारचक्षुर्भ्यः संप्रवर्त्तते । विज्ञानं मणिसूर्यांशुगोस(प्र० ... शु)कृद्भ्य(गोशकृद्भ्य) इवानलः' इति । अत्र च रूपविज्ञानजनने प्राच्यज्ञानक्षणलक्षणो मनस्कार उपादानहेतुरिति, शेषाश्च रूपादित्रितयलक्षणा निमित्तहेतवः । एव रूपालोकचक्षुषामपि स्वस्वप्राच्यक्षणाः स्वस्वकार्यजनने उपादानहेतवः, शेषत्रितयं च निमित्तहेतुरिति । एवमेकस्मादेकस्वभावादेव वस्तुनोऽन्येनान्येनोपादानहेतुना अन्यैश्चान्यैश्च निमित्तहेतुभिः सहायैरनेककार्योदयः सर्वसामग्रीषु योज्यत इति । एतन्निषेधानभ्युपगमे बाधकमाह 'केषामि'त्यादि । एकतोऽनेकफलोदये 'केषाञ्चित्'

फलानाम्, 'अहेतुकत्वापत्तेः'=निर्हेतुकत्वापत्तेः । कथमित्याह 'एकस्य' हेतुस्वभावस्य, 'एकत्र' फले, 'उपयोगेन'=व्यापारेण, 'अपरत्र' फलान्तरे, 'अभावात्' उपयोगस्य ।

(ल०—) अनेककार्यकरणैकस्वभावत्वकल्पना तु शब्दान्तरेणैतदभ्युपगमानुपातिन्येव ।

(पं०—) आशङ्कान्तरपरिहारायाह 'अनेककार्यकारणैकस्वभावत्वकल्पना तु'=एकोऽपि वस्तु स्वभावोऽनेककार्यकरणस्वभावः, ततो न केषाञ्चिदहेतुकत्वमित्येषा पुनः कल्पना, 'शब्दान्तरेण'=अस्मदभ्युपगमाद् 'एकमनेकस्वभावमि'त्यस्माच्छब्दान्तरेण 'एकमनेककार्यकरणस्वभावमे'व लक्षणेन, 'एतदभ्युपगमानुपातिन्येव'= एकमनेकस्वभावमित्यस्मन्मतानुसारिण्येव । न ह्येकस्मात् कथञ्चित्स्वभावभेदमन्तरेणानेकफलोदय इति प्राक् चर्चितमेव ।

(ल०—) निरूपितमेतदन्यत्र,

(१) यतः स्वभावतो जातमेकं नान्यत्ततो भवेत् । कृत्स्नं प्रतीत्य तं भूतिभावत्वात् तत्स्वरूपवत् ॥
(२) अन्यच्चेवंविधं चेति यदि स्यात्कि विरुध्यते । तत्स्वभावस्य कात्स्न्र्येन हेतुत्वं प्रथमं प्रति ॥

इत्यादिना ग्रन्थेनेति नेह प्रतन्यते ।

तदेवं निरुपचरितयथोदितसंपत्सिद्धौ सर्वसिद्धिरिति व्याख्यातं प्रणिपातदण्डकसूत्रम् ।

(पं०—) 'निरूपितम्', 'एतद्'=अनन्तरोक्तम्, 'अन्यत्र'—अनेकान्तजयपताकायाम् । यथा निरूपितं तथैवाह 'यत' इत्यादिश्लोकद्वयं, 'यतो'=यस्मात्, 'स्वभावतो' वस्तुगतरूपरसादिरूपादुपादानभूताद्, 'जातम्'=उत्पन्नम्, 'एकं' कार्यं वस्त्ररागादि, 'न' 'अन्यत्'=द्वितीयं स्वग्राहकप्रत्यक्षादिक सहकारिभावेन, 'ततो' वस्तुस्वभावात्, 'भवेत्'=जायेत । हेतुमाह 'कृत्स्नं'=समस्तं, 'प्रतीत्य'=आश्रित्य, 'तं'=वस्तुस्वभावं, 'भूतिभावत्वाद्'=भवनस्वभावत्वात् । आद्यस्यैव कार्यस्य दृष्टान्तमाह 'तत्स्वरूपवद्'=यथा स्वभावस्य हेतुभूतस्याधिकृतैककार्यगतस्वभावस्य वा स्वरूपं स्वभावकार्त्स्न्याश्रयेणैव भवति, तथा प्रथममपि कार्यमिति । पराभिप्रायमाशङ्क्याह 'अन्यच्च'=द्वितीयं च, कार्यमिति गम्यते, 'एवंविधं च'=तद्धेतुजन्यं च, 'इति'=एतद्, 'यदि स्यात्'=यदि भवेत्, किं विरुध्यते ? न किञ्चित्, तदपि भवत्विति भावः । अत्रोत्तरं 'तत्स्वभावस्य'= वस्तुगतरूपरसादिरूपस्य, 'कार्त्स्न्येन'=सर्वात्मना, 'हेतुत्वं'=निमित्तत्वं, 'प्रथमं प्रति'—आदिकार्यमाश्रित्य, न विरुध्यते । इदमुक्तं भवति सर्वात्मनोपयुक्तत्वादाद्यकार्य एव, कुतस्तत्र कार्यान्तरसंभवः ? तत्संभवे च न प्रथमकार्ये तस्य कार्त्स्न्येनोपयोगः, इति बलादनेकरूपवस्तुसिद्धिरिति । 'आदि' शब्दादन्यकारिकाग्रन्थो दृश्यः ।

स्तोत्र तत्पठनस्वरूपम्

(ल० स्तोत्रतत्पठनयोः स्वरूपम्—) तदेतदसौ साधुः श्रावको वा यथोदितं पठन् पञ्चाङ्गप्रणिपातं करोति, भूयश्च पादपुञ्छनादिनिषण्णो यथाभव्यं (प्र०...यथाभावं) स्थानवर्णार्थालम्बनगतचित्तः, सर्वसाराणि यथाभूतानि असाधारणगुणसङ्गतानि भगवतां दुष्टालङ्कारविरहेण प्रकृष्टशब्दानि, भाववृद्धये परयोगव्याघातवर्जनेन परिशुद्धामापादयन् योगवृद्धिम्, अन्येषां सद्विधानतः सर्वज्ञप्रणीतप्रवचनोन्नतिकराणि, भावसारं परिशुद्धगम्भीरेण ध्वनिना सुनिभृताङ्गः सम्यगनभिभवन्

गुरुध्वनिं तत्प्रवेशात् , अगणयन् दंशमशकादीन् देहे, योगमुद्रया रागादिविषपरममन्त्ररूपाणि महा-स्तोत्राणि पठति ।

(पं०–) 'यथे' त्यादि, 'यथाभव्यं' (पं०...यथाभावं')=यथायोग्य, 'स्थानवर्णार्थालम्बनगतचित्तः' स्थानं=योगमुद्रादि, 'वर्णाः'=चैत्यवन्दनसूत्रगताः अर्थः=तस्यैवाभिधेयम् (प्र० . ०भिधेय.), आलम्बनं= जिनप्रतिमादि, तेषु, गतम्=आरूढं, चित्तं, यस्य स तथा । यो हि यत्स्थानवर्णार्थालम्बनेषु मध्ये मनसावल-म्बितुं समर्थ. तद्गतचित्तः सन्नित्यर्थ' ।

(ल०–वन्दना शुभचित्तलाभार्था) एतानि च तुल्यान्येव प्रायशः, अन्यथा योगव्याघातः । तदज्ञस्य तदपरश्रवणम्, एवमेव शुभचित्तलाभः, तद् व्याघातोऽन्यथेति योगाचार्याः । योगसिद्धिरेव अत्र ज्ञापकम् द्विविधमुक्तं शब्दोक्तमर्थोक्तं च । तदेतदर्थोक्तम् वर्तते, शुभचित्तलाभार्थत्वाद् वन्दनाया इति ।

(प०–) द्विविधमित्यादि, 'द्विविधं'=द्विप्रकारम्, 'उक्तं'=प्रवचनार्थदिश' । तदेव व्यनक्ति, 'शब्दोक्तं'=सूत्रादिष्टमेव, 'अर्थोक्तं'=सूत्रार्थयुक्तिसामर्थ्यगतम् । इति श्री मुनिचन्द्रसूरिभिः रचितललित-विस्तरापञ्जिकायां प्रणिपातदंडकः समाप्त ।

(ल० चैत्यवन्दनोपहासखण्डनम्–) एवं च सति तत्र किञ्चिद् यदुच्यते परैरुपहासबुद्ध्या प्रस्तुतस्यासारतापादनाय; तद्यथा 'अलमनेन क्षपणकवन्दनाकोलाहलकल्पेन अभावितामिधानेन'; उक्तवदभावितामिधानायोगात्, स्थानादिगर्भतया भावसारत्वात्, तदपरस्यागमबाह्यत्वात्, पुरुष प्रवृत्त्या तु तद्बाधायोगात्, अन्यथातिप्रसङ्गादिति न किञ्चिदेव ।

'अरिहंत-चेइयाणं०' (अर्हच्चैत्येभ्यः)

(ल० सहृदयनटवद् भावपूर्णचेष्टा) एवंभूतैः स्तोत्रैर्वक्ष्यमाणप्रतिज्ञोचितचेतोभावमापाद्य पञ्चाङ्गप्रणिपातपूर्वकं प्रमोदवृद्धिजनकानभिवन्द्याचार्यादीनाऽऽगृहीतभावः सहृदयनटवद् अधिकृतभूमिका संपादनार्थं चेष्टते वन्दनासंपादनाय । स चोत्तिष्ठति जिनमुद्रया, पठति चैतत् सूत्रम् अरिहंत-चेइयाणं ति ।

(अरिहंतचेइयाणं करेमि काउस्सग्गं वंदणवत्तियाए-पूयणवत्तियाए-सक्कारवत्तियाए-सम्माणवत्तियाए-बोहिलाभवत्तियाए-निरुवसग्गवत्तियाए, सद्धाए-मेहाए-धिइए-धारणाए-अणुप्पेहाए वड्ढमाणीए ठामि काउस्सग्गं)

अनेन विधिनाराधयति स महात्मा वन्दनाभूमिकाम्, आराध्य चैनां परंपरया निर्वृत्तिमेति नियोगतः; इतरथा तु कूटनटनृत्तवदभावितानुष्ठानप्रायं न विदुषामास्थानिबन्धनम् । अतो यतितव्यमत्रेति ।

(ल०–) सूत्रार्थस्त्वयम् अशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यादिरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तः तीर्थकराः, तेषां चैत्यानि प्रतिमालक्षणानि अर्हच्चैत्यानि। चित्तम्-अन्तःकरणं, तस्य भावः कर्म वा, वर्णदृढादिलक्षणे ष्यञि ('वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ्च' पा० ५-१-१२३) कृते 'चैत्यं' भवति। तत्रार्हतां प्रतिमाः प्रशस्त समाधिचित्तोत्पादकत्वादर्हच्चैत्यानि भण्यन्ते। तेषां, किम्? 'करोमि' इत्युत्तमपुरुषैकवचननिर्देशेनात्माभ्युपगमं दर्शयति। किम्? इत्याह ('कायोत्सर्ग') कायः शरीरं, तस्योत्सर्गः कृताकारस्य स्थानमौनध्यानक्रिया व्यतिरेकेण क्रियान्तराध्यासमधिकृत्य परित्याग इत्यर्थः, तं कायोत्सर्गम्।

(पं०–) 'कृताकारस्ये' ति विहितकायोत्सर्गार्हशरीरसस्थानस्य उच्चारितकायोत्सर्गापवादसूत्रस्य वेति।

(ल०–) आह–"कायस्योत्सर्ग इति षष्ठया समासः (प्र०...षष्ठीसमासः) कृतः, अर्हच्चैत्यानामिति च प्रागावेदितं, तत्किम् 'अर्हच्चैत्यानां कायोत्सर्गं करोमीति?" नेत्युच्यते, षष्ठीनिर्दिष्टं तत्पदं पदद्वयमतिक्रम्य मण्डूकप्लुत्या वन्दनप्रत्ययमित्यादिभिरभिसंबध्यते। ततश्च 'अर्हच्चैत्यानां वन्दनप्रत्ययं करोमि कायोत्सर्गमि'ति द्रष्टव्यम्। तत्र 'वन्दनम्'=अभिवादनं प्रशस्तकायवाङ्मनःप्रवृत्तिरित्यर्थः। 'तत्प्रत्ययं'=तन्निमित्तं 'तत्फलं मे कथं नाम कायोत्सर्गादेव स्याद्' इत्यतोऽर्थमित्येवं सर्वत्र भावना कार्या। तथा 'पूअणवत्तियाए,–'पूजनप्रत्ययं'=पूजननिमित्तं, पूजनं गन्धमाल्यादिभिः समभ्यर्चनम्। तथा 'सक्कारवत्तियाए'-'सत्कारप्रत्ययं'=सत्कारनिमित्तं, प्रवरवस्त्राभरणादिभिरभ्यर्चनं सत्कारः।

(पं०–) 'तत्फले'त्यादि, 'तत्फलं'=तस्य वन्दनस्य फलं कर्मक्षयादि, 'मे'=मम, 'कथं नाम'=केन (प्र०....केनापि) प्रकारेण कायोत्सर्गस्यैवावस्थाविशेषलक्षणेन, 'कायोत्सर्गादेव,' न त्वन्यतोऽपि व्यापारात्, तदानीं तस्यैव भावात्, 'स्याद्'=भूयाद्, 'इति'=अनया आशसया, 'अतोऽर्थम्'=वन्दनार्थमिति।

(ल०–पूजादिकायोत्सर्गः साधुश्रावकार्थः–) आह–"क एवमाह, साधुः श्रावको वा? तत्र साधोस्तावत् पूजनसत्कारावनुचितावेव, द्रव्यस्तवत्वात्, तस्य च प्रतिषेधात्, 'तो कसिणसंजमविऊ पुप्फाईयं न इच्छन्ति' इति वचनात्। श्रावकस्तु सम्पादयत्येवैतौ यथाविभवं, तस्य तत्प्रधानत्वात्, तत्र तत्त्वदर्शित्वात्, 'जिणपूयाविभवबुद्धि'त्ति वचनात्। तत्कोऽनयोर्विषयः?" इति।

(साधोः पूजाप्रमोदतोऽनुमतिः) उच्यते, सामान्येन द्वावपि साधुश्रावकौ। साधोः स्वकरणमधिकृत्य द्रव्यस्तवप्रतिषेधः, न पुनः सामान्येन, तदनुमतिभावात्; भवति च भगवतां पूजासत्कारावुपलभ्य साधोः प्रमोदः,–'साधु शोभनमिदमेतावज्जन्मफलमविरतानाम्' इति वचनलिङ्गगम्यः। तदनुमतिरियम्।

(ल० साधोरुपदेशद्वारा पूजाकारणमपिः–) उपदेशदानतः कारणापत्तेश्च। ददाति च भगवतां पूजासत्कारविषयं सदुपदेशम्,–'कर्त्तव्या जिनपूजा; न खलु वित्तस्यान्यच्छुभतरं स्थानम्'–इति वचनसंदर्भेण। तत्कारणमेतत्। अनवद्यं च तद्, दोषान्तरनिवृत्तिद्वारेण। अयमत्र प्रयोजकोंऽशः, तथाभावतः प्रवृत्तेः, उपायान्तराभावात्।

(पं०–) ननु यावज्जीवमुज्झितसर्व्वसावद्यस्य साधोः कथं सावद्यप्रवृत्तेर्द्रव्यस्तवस्योपदेशनेन (प्र०....० पदेशने,०पदेशेन) कारणं युज्यते ? इत्याशङ्कयाह 'अनवद्यं च'=निर्दोषं च 'एतद्'=द्रव्यस्तवकारणं; हेतुमाह 'दोषान्तरनिवृत्तिद्वारेण', दोषान्तराद्=द्रव्यस्तवापेक्षयाऽन्यस्मादिन्द्रियार्थहेतोर्महतः कृष्याद्यारम्भविशेषात्, तस्य (दोषान्तरस्य) वा, निवृत्तिः=उपरमः, स एव द्वारम्=उपायः तेन । ननु कथमिदमनवद्यम्, अवद्यान्तरे प्रवर्त्तनात् ? इत्याशङ्कयाह 'अयं' दोषान्तरान्महतो निवृत्तिरूपः, 'अत्र'=द्रव्यस्तवोपदेशने, 'प्रयोजकः'=प्रवर्त्तकः, अंशः=निवृत्तिप्रवृत्तिरूपाया द्रव्यस्तवकर्तृक्रियाया विभागः । कुत इत्याह 'तथाभावतो'=दोषान्तरनिवृत्तिभावात्, प्रवृत्तेः=चेष्टायाः, 'उपायान्तराभावात्'=उपायान्तरस्य उपायान्तरतो वाऽभावात्, द्रव्यस्तवपरिहारेण अन्यहेतोरभावात् ।

(ल०–द्रव्यस्तवदृष्टान्तः–) नागमयसुतगर्त्ताकर्षणज्ञातेन भावनीयमेतत् । तदेवं साधुरित्थमेवैतत्संपादनाय कुर्वाणो नाविषयः, वचनप्रामाण्यात्, इत्थमेवेष्टसिद्धेः, अन्यथाऽयोगादिति ।

(पं०–) कथमित्याह 'नागे'त्यादि, नागभयेन=सर्प्पभीत्या, सुतस्य=पुत्रस्य, गर्त्तात्=श्वभ्राद्, आकर्षणम्=अपनयनम्, एतदेव ज्ञातं=दृष्टान्तः, तेन, 'भावनीयम्', 'एतत्'=साधोर्द्रव्यस्तवकारणं देशनाद्वारेण । तथाहि, किल काचित् स्त्री प्रियपुत्रं रमणीयरूपमुपरचय्य रमणाय बहिर्मन्दिरस्य विससर्ज । स चातिचपलतया अविवेकतया च इत इतः पर्य्यटन्नवटप्रायमतिविषमतटमेकं गर्त्तमाविवेश । मुहूर्त्तान्तरे च प्रत्यपायसम्भावनया चकितचेता माता तमानेतुं तं देशमाजगाम, ददर्श च गर्त्तान्तर्वर्त्तिनं तं निजसूनुं, तमनु च प्रचलितम् आकालिककोपप्रसरमा (प्र०. अनाकलितकोपप्रशमा) ञ्जनपुञ्जकालकायमुद्घाटितातिविकटस्फुटाटोपं पन्नगम् । ततोऽसौ गुरुलाघवालोचनचतुरा 'नूनमतः पन्नगादस्य महानपायो भविते'ति विचिन्त्य सत्वर प्रसारितकरा गर्त्तात् पुत्रमाचकर्ष । यथासौ स्तोकोत्कीर्णशरीरत्वक्तया सपीडेऽपि तत्र न दोषवती, परिशुद्धभावत्वात् (प्र०....भावात्), तथा सर्व्वथा त्यक्तसर्व्वसावद्योऽपि साधुरुपायान्तरतो महतः सावद्यान्तरान्निवृत्तिमपश्यन् गृहिणां द्रव्यस्तवमादिशन्नपि न दोषवानिति ।

(ल०–श्रावकत्वं जिनपूजालालसत्वम्:–) श्रावकस्तु सम्पादयन्नप्येतौ भावातिशयादधिकसम्पादनार्थमाह । न तस्यैतयोः संतोषः, तद्धर्म्मस्य तथास्वभावत्वात् । जिनपूजासत्कारयोः करणलालसः खल्वाद्यो देशविरतिपरिणामः, औचित्यप्रवृत्तिसारत्वेन; उचितो चारम्भिण एतौ, सदारम्भरूपत्वात्, औचित्याज्ञामृतयोगात्, असदारम्भनिवृत्तेः, अन्यथा तदयोगादतिप्रसङ्गादिति ।

(पं०–) 'तद्धर्म्मे'त्यादि, तद्धर्म्मस्य=श्रावकधर्म्मस्य, 'तथास्वभावत्वात्'=जिनपूजासत्कारयोराकाङ्क्षातिरेकात् असंतोषस्वभावत्वात् । एतदेव भावयति, 'जिनपूजासत्कारयोः' उक्तरूपयोः, 'करणलालसएव=' विधानलम्पट एव, 'खलु'=शब्दस्यैवकारार्थत्वात्, 'आद्यः'=आरम्भ (प्र० ..सचित्त, सचित्तारम्भ)वर्जाभिधानाष्टमप्रतिमाभ्यासात् आकालभावी, 'देशविरतिपरिणामः'=श्रावकाध्यवसायः । कुत इत्याह 'औचित्यप्रवृत्तिसारत्वेन'=निजावस्थाया आनुरूप्येण या प्रवृत्तिः-चेष्टा तत्प्रधानत्वेन । औचित्यमेव भावयन्नाह 'उचितो च'=योग्यौ च, 'आरम्भिणः'–अत एव पृथिव्याद्यारम्भवत, ' एतौ'=पूजासत्कारौ कुत इत्याह-'सदारम्भरूपत्वात्,

सन्=सुन्दरो जिनविषयतया, आरम्भः=पृथिव्याद्युपमर्दः, तद्रूपत्वात् । आरम्भविशेषेऽपि कथमनयोः सदारम्भत्वमित्याशङ्क्याह 'आज्ञामृतयोगात्, 'आज्ञैव' जिनभवन जिनबिम्बमित्याद्याप्तोपदेशरूपा, 'अमृतम्' अजरामरभावकारित्वात्, तेन योगात् । आज्ञापि किंनिबन्धनमित्थमित्याशङ्क्याह 'असदारम्भनिवृत्तेः,' असतः=इन्द्रियार्थविषयतया असुन्दरस्य, आरम्भस्य, ततो वा, जिनपूजादिकाले निवृत्तेः । ननु तन्निवृत्तिरन्यथापि भविष्यतीत्याशङ्क्याह 'अन्यथा'=आज्ञामृतयुक्तौ पूजासत्कारौ विमुच्य, 'तदयोगाद्'=असुन्दरारम्भनिवृत्तेरयोगात् । विपक्षे बाधामाह 'अतिप्रसङ्गात्'=प्रकारान्तरेणाप्यसदारम्भनिवृत्त्यभ्युपगमे द्यूतरमणान्दोलनादावपि तत्प्राप्त्यातिप्रसङ्गादिति । 'इतिः' वाक्यसमाप्तौ ।

(ल०—द्रव्यस्तवो भावस्तवाङ्गम्:—) तथाहि,—द्रव्यस्तव एवैतौ, स च भावस्तवाङ्गमिष्टः, तदन्यस्याप्रधानत्वात्, तस्याभव्येष्वपि भावात् । अतः आज्ञयाऽसदारम्भनिवृत्तिरूप एवायं स्यात् । औचित्यप्रवृत्तिरूपत्वेऽप्यल्पभावत्वाद् द्रव्यस्तवः । गुणाय चायं कूपोदाहरणेन ।

(पं०—)औचित्यमेव पुनर्विशेषतो भावयन्नाह, 'तथाहि, द्रव्यस्तवः', 'एतौ'=पूजासत्कारौ, ततः किमित्याह 'स च'=द्रव्यस्तवः (च), 'भावस्तवाङ्ग'—शुद्धसाधुभावनिबन्धनम्, 'इष्टः'=अभिमतः । कुत इत्याह 'तदन्यस्य'=भावस्तवानङ्गस्य, 'अप्रधानत्वाद्'=अनादरणीयत्वात्, कुत इत्याह 'तस्य'=अप्रधानस्य, 'अभव्येष्वपि' किं पुनरितरेषु, 'भावात्'=सत्त्वात् । न च ततः काचित्प्रकृतसिद्धिः । 'अतः'=अन्यस्याप्राधान्याद्धेतोः, 'आज्ञया'=आप्तोपदेशेन, 'असदारम्भनिवृत्तिरूप एव'=असदारम्भाद्-उक्तरूपात् तस्य वा, या निवृत्तिः=उपरमः, तद्रूप एव, न पुनरन्यो बहुलोकप्रसिद्धः, 'अयं'—शास्त्रविहितो द्रव्यस्तव, 'स्याद्'=भवेत् । आह, 'कथमसौ न भावस्तवः ? औचित्यप्रवृत्तिरूपत्वात् साधुधर्म्मवद्' इत्याशङ्क्याह 'औचित्यप्रवृत्तिरूपत्वेऽपि'=श्रावकावस्थायोग्यव्यापारस्वभावतायामपि, किं पुनस्तदभावे 'अल्पभावत्वात्'=तुच्छशुभपरिणामत्वात्, 'द्रव्यस्तवः'=पूजासत्कारौ । एवं तर्हि अल्पभावत्वादेवाकिञ्चित्करोऽयं गृहिणामित्याशङ्क्याह 'गुणाय च'=उपकाराय च, 'अयं'=द्रव्यस्तवः, कथमित्याह 'कूपोदाहरणेन'=अवटज्ञातेन ।

(पं०—)इह चैव साधनप्रयोगो, 'गुणकरम् अधिकारिणः किञ्चित्सदोषमपि पूजादि, विशिष्टशुभभावहेतुत्वत्, यद् यद् विशिष्टशुभभावहेतुभूतं तद् गुणकरं दृष्टं, यथा कूपखननं, विशिष्टशुभभावहेतुश्च यतनया पूजादि, ततो गुणकरमिति' । कूपखननपक्षे शुभभावः तृष्णादिव्युदासेनानन्दाद्यवाप्तिरिति । इदमुक्तं भवति, यथा कूपखननं श्रमतृष्णाकर्दमोपलेपादिदोषदुष्टमपि जलोत्पत्तावनन्तरोक्तदोषानपोह्य स्वोपकाराय परोपकाराय वा यथाकालं (प्र० चालं, प्र० .चाकाल) भवति, एवं पूजादिकमप्यारम्भदोषमपोह्य शुभाध्यवसायोत्पादनेनाशुभकर्म्मनिर्ज्जरणपुण्यबन्धकारणं भवतीति ।

(ल०—आज्ञाशुद्धेः प्रवृत्तिः सफला) न चैतदप्यनीदृशमिष्टफलसिद्धये, किन्त्वाज्ञामृतयुक्तमेव, स्थाने विधिप्रवृत्तेरिति सम्यगालोचनीयमेतत् । तदेवमनयोः साधुश्रावकावेव विषय इत्यलं प्रसङ्गेन ।

(पं०—) दृष्टान्तशुद्ध्यर्थमाह 'न च'=नैव, 'एतदपि'—कूपोदाहरणमपि, 'अनीदृशम्'=उदाहरणीयबहुगुणद्रव्यस्तवविसदृशं यथाकथञ्चित् (प्र० यथाकिञ्चित्) खननप्रवृत्त्या, 'इष्टफलसिद्धये', इष्टफलम्

आरम्भिणां द्रव्यस्तवस्य बहुगुणत्वज्ञापनं, तत्सिद्धये भवतीति, दार्ष्टान्तिकेन वैधर्म्यात् । यथा तु स्यात् तथाह 'किं त्वाज्ञामृतयुक्तमेव', आज्ञैवामृत परमस्वास्थ्यकारित्वादाज्ञामृतं, तद्युक्तमेव=तत्संबद्धमेव; तथाहि, महत्यां पिपासाद्यापदि कूपखननात्सुखतरान्योपायेन विमलजलासंभवे निश्चितस्वादुशीतस्वच्छजलायां भूमौ (प्र०....इलायां) अन्योपायपरिहारेण (प्र०.. विरहेण) कूपखननमुचितं, तस्यैव तदानीं बहुगुणत्वाद् ; इत्थमेव च खातशास्त्रकाराज्ञा । कुत एतदित्याह 'स्थाने'=द्रव्यस्तवादौ कूपखननादिके च उपकारिणि, 'विधिप्रवृत्तेः=औचित्यप्रवृत्तेः, अन्यथा ततोऽप्यपायभावात् ।

(ल० सम्माण० बोहिलाभ० निरुवसग्ग० पदार्थः–) तथा 'सम्माणवत्तियाए'त्ति सन्मानप्रत्ययं सन्माननिमित्तम् । स्तुत्यादिगुणोन्नतिकरणं सन्मानः; तथा मानसः प्रीतिविशेष इत्यन्ये । अथ वन्दनपूजनसत्कारसन्माना एव किंनिमित्तमिति ? अत आह 'बोहिलाभवत्तियाए' बोधिलाभप्रत्ययं बोधिलाभनिमित्तम् । जिनप्रणीतधर्मप्राप्तिर्बोधिलाभोऽभिधीयते । अथ बोधिलाभ एव (प्र०...०भोऽपि) किंनिमित्तमिति ? अत आह 'निरुवसग्गवत्तियाए'–निरुपसर्गप्रत्ययं निरुपसर्गनिमित्तम् । निरुपसर्गो मोक्षः, जन्माद्युपसर्गाभावेन ।

(ल०–प्राप्तबोधिलाभार्थं कथं कायोत्सर्गः ?–) आह,–'साधुश्रावकयोर्बोधिलाभोऽस्त्येव; कथं तत्प्रत्ययं; सिद्धस्यासाध्यत्वात् ? एवं तन्निमित्तो निरुपसर्गोऽपि तथाऽनभिलषणीय एव; इति किमर्थमनयोरुपन्यास इति ?' उच्यते क्लिष्टकर्मोदयवशेन बोधिलाभस्य प्रतिपातसंभवाज्जन्मान्तरेऽपि तदर्थित्वसिद्धेः; निरुपसर्गस्यापि तदायत्तत्वात् । संभवत्येवं भावातिशयेन रक्षणमित्येतदर्थमनयोरुपन्यासः । न चाप्राप्तप्राप्तावेवेह प्रार्थना, प्राप्तभ्रष्टस्यापि प्रयत्नप्राप्यत्वात् क्षायिकसम्यग्दृष्ट्यपेक्षयाप्यक्षेपफलसाधकबोधिलाभापेक्षया एवमुपन्यासः ।

(ल०–'सद्धाए'...जलशोधकमणिदृष्टान्तः–) अयं च कायोत्सर्गः क्रियमाणोऽपि श्रद्धादिविकलस्य नाभिलषितार्थप्रसाधनायालमित्यत आह 'सद्धाए मेहाए धीइए धारणाए अणुप्पेहाए वड्ढमाणीए ठामि काउस्सग्गं'ति । श्रद्धया हेतुभूतया, न बलाभियोगादिना । श्रद्धा निजोऽभिलाषः मिथ्यात्वमोहनीयकर्मक्षयोपशमादिजन्यश्चेतसः प्रसाद इत्यर्थः । अयञ्च जीवादितत्त्वार्थानुसारी समारोपविघातकृत् कर्मफलसम्बन्धास्तित्वादिसंप्रत्ययाकारः चित्तकालुष्यापनायी धर्मः । यथोदकप्रसादको मणिः सरसि प्रक्षिप्तः पङ्कादिकालुष्यमपनीयाच्छतामापादयति, एवं श्रद्धामणिरपि चित्तसरस्युत्पन्नः (प्र०...पपन्नः) सर्वं चित्तकालुष्यमपनीय भगवदर्हत्प्रणीतमार्गं (प्र० ..मार्ग) सम्यग्भावयतीति ।

(पं०–) 'श्रद्धा०' । 'समारोपे'त्यादि, 'समारोपविघातकृत्', समारोपो नामासतः स्वभावान्तरस्य मिथ्यात्वमोहोदयात्तथ्ये वस्तुन्यध्यारोपणं काचकामलाद्युपघाताद् द्विचन्द्रादिविज्ञानेष्विवेति, तद्विघातकृत्=तद्विनाशकारी । 'कर्मफलसम्बन्धास्तित्वादिसंप्रत्ययाकार' इति, कर्म शुभाशुभलक्षण, फलं च तत्कार्यं तथाविधमेव, तयोः संबन्धः आनन्तर्येण कार्यकारणभावलक्षणो वास्तवः सयोगो, न तु सुगतसुतपरिकल्पित-

सन्तानव्यवहाराश्च इवोपचरितो, यथोक्तं तैः 'यस्मिन्नेव हि सन्ताने, आहिता कर्म्मवासना । फलं तत्रैव सन्धत्ते कार्प्पासे रक्तता यथा ।' तस्य अस्तित्वं=सद्भावः, 'आदि'शब्दाद् 'आत्मास्ति, स परिणामी, बद्धः सत्कर्म्मणा विचित्रेण । मुक्तश्च तद्वियोगाद्, हिंसाहिंसादि तद्धेतुः ॥' इत्यादिचित्रप्रावचनिकवस्तुग्रहः । तस्य सम्प्रत्ययः=सम्यक्श्रद्धानयुता प्रतीतिः स आकारः=स्वभावो यस्य स तथा ।

(ल०–'मेहाए'–आतुरौषधदृष्टान्तः–) एवं मेधया, न जडत्वेन । मेधा ग्रन्थग्रहणपटुः परिणामः, ज्ञानावरणीयकर्म्मक्षयोपशमजः चित्तधर्मः इति भावः । अयमपीह सद्ग्रन्थप्रवृत्तिसारः पापश्रुतावज्ञाकारी गुरुविनयादिविधिवल्लभ्यो महांस्तदुपादेयपरिणामः; आतुरौषधाप्त्युपादेयतानिदर्शनेन;–यथा प्रेक्षावदातुरस्य तथा तथोत्तमौषधावाप्तौ विशिष्टफलमव्यतयेतरापोहेन तत्र महानुपादेयभावो ग्रहणादरश्च, एवं मेधाविनो मेधासामर्थ्यात् सद्ग्रन्थ एवोपादेयभावो ग्रहणादरश्च, नान्यत्र, अस्यैव भावौषधत्वादिति ।

(ल०–'धीइए' : चिन्तामणिप्राप्त्युपमाः–) एवं च धृत्या, न रागाद्याकुलतया । धृतिर्मनःप्रणिधानं, विशिष्टा प्रीतिः । इयमप्यत्र मोहनीयकर्म्मक्षयोपशमादिसंभूता, रहिता दैन्यौत्सुक्याभ्यां, धीरगम्भीराशयरूपा, अवन्ध्यकल्याणनिबन्धनवस्त्वाप्त्युपमया;–यथा दौर्गत्योपहतस्य चिन्तामण्याद्यवाप्तौ विज्ञाततद्गुणस्य 'गतमिदानीं दौर्गत्यमि'ति विदित (प्र०...विगत) तद्विघातभावं भवति धृतिः । एवं जिनधर्म्मचिन्तारत्नप्राप्तावपि विदिततन्माहात्म्यस्य 'क इदानीं संसार' इति तद्दुःखचिन्तारहिता सञ्जायत एवेयम्, उत्तमालम्बनत्वादिति ।

(ल०–'धारणाए' : मुक्ताफलमालाप्रोतकोपमाः–) एवं धारणया, न चित्तशून्यत्वेन । 'धारणा' अधिकृतवस्त्वविस्मृतिः । इयं चेह ज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमसमुत्था अविच्युत्यादिभेदवती प्रस्तुत(प्र०...प्रज्ञात)वस्त्वानुपूर्वीगोचरा चित्तपरिणतिः, जात्यमुक्ताफलमालाप्रोतकदृष्टान्तेन तस्य तथातथोपयोगदाढर्यात् अविक्षिप्तस्य सतो यथार्हं विधिवदेतत्प्रोतनेन गुणवती निष्पद्यते अधिकृतमाला; एवमेतद्बलात् स्थानादियोगप्रवृत्तस्य यथोक्तनीत्यैव निष्पद्यते योगगुणमालापुष्ट (प्र०...पुष्टि)निबन्धनत्वादिति ।

(पं०–) 'अविच्युत्यादिभेदवती'=अविच्युतिस्मृतिवासनाभेदवती ।

(ल०–'अणुप्पेहाए' : रत्नशोधकानलोपमा–) एवमनुप्रेक्षया, न प्रवृत्तिमात्रतया । अनुप्रेक्षा नाम तत्त्वार्थानुचिन्ता । इयमप्यत्र ज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमसमुद्भवोऽनुभूतार्थाभ्यासभेदः(१)परमसंवेगहेतुः (२) तद्दार्ढ्यविधायी (३)उत्तरोत्तरविशेषसम्प्रत्ययाकारः (४)केवलालोकोन्मुखश्चित्तधर्मः । यथा रत्नशोधकोऽनलः रत्नमभिसंप्राप्तः रत्नमलं दग्ध्वा शुद्धिमापादयति, तथानुप्रेक्षानलोऽप्यात्मरत्नमुपसंप्राप्तः कर्ममलं दग्ध्वा कैवल्यमापादयति तथातत्स्वभावत्वात्(प्र०...तथास्वभावात्) इति ।

(ल०–श्रद्धादीनि महासमाधिबीजानिः–) एतानि श्रद्धादीनि अपूर्वकरणाख्यमहासमाधिबीजानि, तत्परिपाकातिशयतस्तत्सिद्धेः । परिपाचना त्वेषां कुतर्कप्रभवमिथ्याविकल्पव्यपोहतः श्रवण-

पाठ-प्रतिपत्तीच्छा-प्रवृत्त्यादिरूपाः; अतिशयस्तस्याः तथास्थैर्यसिद्धिलक्षणः प्रधानसत्त्वार्थहेतुरपूर्वकल्पाव्रह इति परिभावनीयं स्वयमित्थम् । एतदुच्चारणं त्वेवमेवोपधाशुद्धं सदनुष्ठानं(प्र०...अनुष्ठानं) भवतीति । एतद्वानेव चास्याधिकारीति ज्ञापनार्थम् ।

(पं०–) 'श्रवणपाठप्रतिपत्तीच्छाप्रवृत्त्यादिरूपा' इति श्रवणं=धर्मशास्त्राऽऽकर्णनं, पाठः=तत्सूत्रगत', प्रतिपत्तिः=सम्यक्तदर्थप्रतीति', 'इच्छा'=शास्त्रोक्तानुष्ठानविषया चिन्ता, प्रवृत्तिः=तदनुष्ठानम्, 'आदि'शब्दाद्विघ्नजय-सिद्धि-विनियोगा दृश्या.; तत्र विघ्नजयः=जघन्यमध्यमोत्कृष्टप्रत्यूहाभिभवः, सिद्धिः=अनुष्ठेयार्थनिष्पत्ति', विनियोगः=तस्या यथायोग्यं व्यापारणम् । ततस्ते रूपं यस्याः सा तथा ।

(ल०–'वड्ढमाणीए ठामि' : नि० व्य० नयौ :–) वर्द्धमानया वृद्धिं गच्छन्त्याः नावस्थितया । प्रतिपदोपस्थाप्येतत्,–श्रद्धया वर्द्धमानया, एवं मेधया०,...इत्यादि । लाभक्रमादुपन्यासः श्रद्धादीनां,–श्रद्धायां सत्यां मेधा, तद्भावे धृतिः, ततो धारणा, तदन्वनुप्रेक्षा । वृद्धिरप्यनेनैव क्रमेण । एवं तिष्ठामि कायोत्सर्गमित्यनेन प्रतिपत्तिं दर्शयति । प्राक् 'करोमि करिष्यामी'ति क्रियाभिमुख्यमुक्तं, सांप्रतं त्वासन्नतरत्वात् क्रियाकाल-निष्ठाकालयोः कथंचिदभेदात् 'तिष्ठाम्ये'वाह । अनेनाभ्युपगमपूर्वं श्रद्धादिसमन्वितं च सदनुष्ठानमिति दर्शयति ।

(पं०–) 'प्रतिपत्ति' मिति, प्रतिपत्तिः कायोत्सर्गारम्भरूपा, तां, 'क्रियाकालनिष्ठाकालयोः कथंचिदभेदादि'ति कथंचिद्=निश्चयनयवृत्त्या । स हि क्रियमाणं=क्रियाकालप्राप्तं कृतमेव=निष्ठितमेव मन्यते; अन्यथा क्रियोपरमकाले क्रियानारम्भकाल इवानिष्ठितत्वप्रसङ्गात्, उभयत्र क्रियाऽभावाविशेषात् । कृतं पुनः क्रियमाणमुपरतक्रियं वा स्यादिति । यदुक्तं, 'तेणेह कज्जमाणं नियमेण कयं, कयं च भयणिज्जं । किञ्चिदिह कज्जमाण उवरयकिरियं व होज्जाहि ॥१॥' व्यवहारनयस्तु 'अन्यत् क्रियमाणमन्यच्च कृतामि'ति मन्यते । यदाह,–'नारम्भे च्चिय दीसइ, न सिवादद्धाए दीसइ तयन्ते । जम्हा घडाइकज्जं न कज्जमाणं कयं तम्हा ॥१॥' ततोऽत्र निश्चयनयवृत्त्या व्युत्सष्टुमारब्धकायस्तद्देशापेक्षया व्युत्सृष्ट एव द्रष्टव्य इति ।

(ल०–श्रद्धादितारतम्यमादरादिसिद्धम्:–) आह 'श्रद्धादिविकलस्यैवमभिधानं मृषावादः'; को वा किमाहेति, सत्यम्, इत्थमेवैतदिति तन्त्रज्ञाः, किन्तु न श्रद्धादिविकलः प्रेक्षावानेवमभिधत्ते, तस्यालोचितकारित्वात् । मन्दतीव्रादिभेदाश्चैते तथादरादिलिङ्गा इति । नातद्वत आदरादीति । अतस्तदादरादिभावेनाभोगवतोऽप्येत इति ।

(पं०–) ननु कदाचिच्छ्रद्धादिविकल' प्रेक्षावानप्येवमभिदधद् दृश्यत इत्याशङ्क्याह 'मन्दे' त्यादि; मन्दो=मृदु, तीव्रः=प्रकृष्ट, आदिशब्दात् तदुभयमध्यवर्त्ती मध्यम', त एव भेदाः=विशेषाः, येषां ते तथा । चः समुच्चये, एते=श्रद्धादय किंविशिष्टा इत्याह 'तथा'=तेन प्रकारेण, ये 'आदरादयो' वक्ष्यमाणास्त एव 'लिङ्ग'=गमकं येषां ते तथा । 'इति': वाक्यसमाप्तौ । ननु कथमेषां लिङ्गत्व सिद्धमित्याह 'न'=नैव, 'अतद्वतः'=अश्रद्धादिमतो, 'यत' इति गम्यते, 'आदरादि' वक्ष्यमाणमेव, 'इति' अत. श्रद्धादिकारणत्वाल्लिङ्गमिति । तत किं सिद्धमित्याह 'अतः'=श्रद्धादिकारणत्वात्, 'तदादरादिभावे' तत्र=कायोत्सर्गे,

आदरादेः लिङ्गस्य, भावे=सत्तायाम्, 'अनाभोगवतोऽपि'=चलचित्ततया प्रकृतस्थानवर्णाद्युपयोगविरहेऽपि, किं पुनराभोगे ? इति 'अपि' शब्दार्थः, 'एते'=श्रद्धादयः, कार्याविनाभावित्वात् कस्यचित् कारणस्य यथा प्रदीपस्य प्रकाशेन वृक्षस्य वा छायया, 'इतिः' वाक्यसमाप्तौ। अतो मन्दतया श्रद्धादीनामनुपलक्षणेऽपि, आदरादिभावे सूत्रमुच्चारयतोऽपि न प्रेक्षावत्ताक्षतिः।

(ल०—चित्तधर्मणामिक्ष्वाद्युपमाः—) इक्षु-रस-गुड-खण्ड-शर्करोपमाश्चित्तधर्माः इत्यन्यैरप्यभिधानात्; इक्षुकल्पं च तदादरादि भवति, अतः क्रमेणोपायवतः शर्करादिप्रतिमं श्रद्धादीति।

(पं०—) परमतेनापि श्रद्धादीनां मन्दतीव्रादित्वं साधयन्नाह 'इक्षु-रस-गुड-खण्ड-शर्करोपमाः' इत्यादिभिः पञ्चभिर्जनप्रतीतैः 'उपमा'=सादृश्यं येषां ते तथा, 'चित्तधर्माः'=मनःपरिणामाः, 'इति'=एतस्यार्थस्य, 'अन्यैरपि' तन्त्रान्तरीयैः किं पुनरस्माभिः, ? 'अभिधानात्'=भणनात्। प्रकृतयोरेवोपमानोपमेययोर्योजनामाह 'इक्षुकल्पं च'=इक्षुसदृशं च, 'तद् आदरादि' तस्मिन्=कायोत्सर्गे, आदरः=उपादेयभावः, 'आदि' शब्दात् करणे प्रीत्यादि। 'इति'=अस्मात्कारणाद्, 'भवति'=सम्पद्यते, 'अतः'=इक्षुकल्पादादरादेः 'क्रमेण'=प्रकर्षपरिपाट्या, 'उपायवतः'=तद्धेतुयुक्तस्य, 'शर्करादिप्रतिमं', शर्करा=सिता, 'आदि' शब्दात् पश्चानुपूर्व्या खण्डादिग्रहः (तत्प्रतिमं=)तत्समं प्रत्येकं प्रकृतसूत्रोपात्त (श्रद्धादि=)श्रद्धामेधादिगुणपञ्चकम् 'इति' परिसमाप्तौ।

(ल०—कषायकटुकत्वं शममाधुर्यम्—) कषायादिकटुकत्वनिरोधतः शममाधुर्यापादनसाम्येन चेतस एवमुपन्यास इति। एतदनुष्ठानमेव चैवमिहोपायः तथा तथा सद्भावशोधनेनेति परिभावनीयम्। उक्तं च परैरपि

'आदरः करणे प्रीतिरविघ्नः संपदागमः। जिज्ञासा तज्ज्ञसेवा च, सदनुष्ठानलक्षणम् ॥१॥

अतोऽभिलषितार्थाप्तिस्तत्सद्भावविशुद्धितः। यथेक्षोः शर्कराप्तिः स्यात्क्रमात्सद्धेतुयोगतः ॥२॥

इत्यादि।

(पं०—) आह किमिति दृष्टान्तान्तरव्युदासेनेक्ष्वाद्युपमोपन्यास इत्याशङ्क्याह 'कषायादिकटुकत्वनिरोधतः', कषायाः=क्रोधादयः, 'आदि' शब्दादिन्द्रियविकारादिग्रहः, त एव कटुकत्वं=कटुकभावः, तस्य निरोधाद् आत्मनि, किमित्याह 'शममाधुर्यापादनसाम्येन' शमः=उपशमः, स एव माधुर्यं=मधुरभावः शुभ(प्र० शुद्ध) भावप्रीणनहेतुत्वात्, तस्य आपादनं=विधानं, तेन तस्य वा साम्यं=सादृश्यं, तेन चेतसो=मनसः, 'एवम्'= इक्ष्वाद्युपमानोपमेयतयोपन्यास आदरादीनाम्, 'इतिः' परिसमाप्तौ। 'उपायवत' इति प्रागुक्तम्, अत उपायमेव दर्शयति,-'एतदनुष्ठानमेव च'=प्रकृतकायोत्सर्गविधानमेव, न पुनरन्यत्, 'चः' समुच्चये, 'एवम्'=इति सामान्येनादरादियुक्तम्, 'इह' इति =शर्करादिप्रतिमश्रद्धादिभवने, 'उपायः'—हेतु, कुत इत्याह तथा तथा'= तत्तत्प्रकारेण, 'सद्भावशोधनेन'=शुद्धपरिणामनिर्मलीकरणेन, 'इति'=एतत्, 'परिभावनीयम्'—अन्वयव्यतिरेकाभ्यामालोचनीयमेतद्। इदमपि परमतेन संवादयन्नाह 'उक्तं च', 'परैरपि' मुमुक्षुभिः। किमुक्तमित्याह 'आदरेत्यादिश्लोकद्वयं' सुगमम्। नवरम् 'अविघ्न' इति सदनुष्ठाननिहतक्लिष्टकर्म्म (प्र० दुःकर्म्म)तया सर्वत्र कृत्ये विघ्नाभावः।

(ल०—अप्रेक्षाकारियथेच्छप्रवर्तकस्य मृषावादः—) अप्रेक्षावतस्तु यदृच्छाप्रवृत्तेः नटादिकल्पस्य गुणद्वेषिणो मृषावाद एव, अनर्थयोगात् । तत्परितोषस्तु तदन्यजनाधःकारी मिथ्यात्वग्रहविकारः । यथोक्तमन्यैः,

दण्डिखण्डनिवसनं भस्मादिविभूषितं सतां शोच्यम् । पश्यत्यात्मानमलं ग्रही नरेन्द्रादपि ह्यधिकम् ॥१॥
मोहविकारसमेतः पश्यत्यात्मानमेवमकृतार्थम् । तद्व्यत्ययलिङ्गरतं कृतार्थमिति तद्ग्रहावेशात् ॥२॥

इत्यादि । तस्मात्प्रेक्षावन्तमङ्गीकृत्यैतत्सूत्रं सफलं प्रत्येतव्यमिति ।

(पं०—) 'तत्परितोषे'त्यादि, तेन=मृषावादेन मिथ्याकायोत्सर्गरूपेण परितोषः कृतार्थतारूपः, 'तुः' पुनरर्थे, 'तदन्यजनाधःकारी'=सम्यक्कायोत्सर्गकारिलोकनीचत्वविधायी, 'मिथ्यात्वग्रहविकारो,' मिथ्यात्वमेवोन्मादरूपतया, ग्रहो=दोषविशेषः, तस्य विकार इति । 'एवमि'ति ग्रहप्रकारेण । 'तद्व्यत्ययलिङ्गरतमि'ति, तस्य—कृतार्थस्य, व्यत्ययः=अकृतार्थः, तस्य लिङ्गानि उच्छृङ्खलप्रवृत्त्यादीनि, तेषु रतम् । 'तद्ग्रहावेशादि'ति, स एव ग्रहो मोहविकारः तद्ग्रहः, तस्य आवेशाद्=उद्रेकात् ।

'अन्नत्थ ऊससिएणं' सूत्र

(अन्यत्र उच्छ्वसितेन)

(ल०—कायोत्सर्गापवादाः—) किं सर्वथा तिष्ठति कायोत्सर्गमुत नेत्याह 'अन्नत्थ ऊससिएणमि'त्यादि ।

(अन्नत्थ ऊससिएणं नीससिएणं खासिएणं छीएणं जंभाइएणं उड्डुएणं वायनिसग्गेणं भमलीए पित्तमुच्छाए सुहुमेहिं अङ्गसंचालेहिं सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं सुहुमेहिं दिट्ठिसंचालेहिं, एवमाइएहिं आगारेहिं अभग्गो अविराहिओ हुज्ज मे काउस्सग्गो, जाव अरिहंताणं भगवंताणं नमुक्कारेणं न पारेमि ताव कायं ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि)

अन्यत्रोच्छ्वसितेन—उच्छ्वसितं मुक्त्वा योऽन्यो व्यापारस्तेनाव्यापारवत इत्यर्थः । एवं सर्वत्र भावनीयम् । तत्रोर्ध्वं प्रबलं वा श्वसितमुच्छ्वसितं, तेन । 'नीससिएणं'ति—अधः श्वसितं निःश्वसितं, तेन । 'खासिएणं'ति—कासितेन कासितं प्रतीतं । 'छीएणं'ति-क्षुतेन, इदमपि प्रतीतमेव । 'जंभाइएणं'ति—जृम्भितेन, विवृतवदनस्य प्रबलपवननिर्गमो जृम्भितमुच्यते । 'उड्डुएणं'ति—उद्गारितं प्रतीतं, तेन । 'वायनिसग्गेणं'ति—अधिष्ठानेन पवननिर्गमो वातनिसर्गो भण्यते, । 'भमलीए'त्ति—भ्रमल्या, इयं चाकस्मिकी शरीरभ्रमिः प्रतीतैव । 'पित्तमुच्छाए'ति—पित्तमूर्च्छया, पित्तप्राबल्यान्मनाङ् मूर्च्छा भवति ।

(ल०—) 'सुहुमेहिं अङ्गसञ्चालेहिं'ति सूक्ष्मैः अङ्गसञ्चारैः लक्ष्यालक्ष्यैर्गात्रविचलनप्रकारैः रोमोद्गमादिभिः । 'सुहुमेहिं खेलसञ्चालेहिं'ति-सूक्ष्मैः खेलसञ्चारैः, यस्माद्वीर्यसयोगिसद्द्रव्यतया ते खल्वन्तर्भवन्ति । 'सुहुमेहिं दिट्ठिसञ्चालेहिं'ति-सूक्ष्मैः दृष्टिसञ्चारैः निमेषादिभिः ।

(पं०–) 'वीर्यसयोगिसद्द्रव्यतये'ति, वीर्येण=वीर्यान्तरायकर्म्मक्षयक्षयोपशमप्रभवेणात्मशक्तिविशेषेण, सयोगीनि=सचेष्टानि, सन्ति=विद्यमानानि, द्रव्याणि मनोवाक्कायतया परिणतपुद्गलस्कन्धलक्षणानि, यस्य स तथा (वीर्यसयोगिसद्द्रव्यः), तद्भावस्तत्ता, तया। अथवा, वीर्येण उक्तलक्षणेन, सयोगिनो=मनोवाक्कायव्यापारवतः, सतो=जीवस्य, द्रव्यता=खेलसञ्चारादीन् प्रति हेतुभावः, तयेति।

(ल०–) 'एवमाइएहिं आगारेहिं अभग्गो अविराहिओ हुज्ज मे काउस्सग्गोत्ति'–एवमादिभिरिति। 'आदिशब्दाद् यदा ज्योतिः स्पृशति तदा प्रावरणाय कल्पग्रहणं कुर्वतोऽपि न कायोत्सर्गभङ्गः।

आह,–'नमस्कारमेवाभिधाय किमिति तद्ग्रहणं न करोति येन तद्भङ्गो न भवति?'। उच्यते, नात्र नमस्कारेण पारणमित्येतावदेव अविशिष्टं कायोत्सर्गमानं क्रियते, किन्तु यो यत्परिमाणो यत्र कायोत्सर्ग उक्तः, तत ऊर्ध्वं समाप्तेऽपि तस्मिन् नमस्कारमपठतो भङ्गः; अपरिसमाप्तेऽपि पठतो भङ्ग एव। स चात्र न भवतीति। न चैतत्स्वमनोपिकयैवोच्यते, यत उक्तमार्षे 'अगणी उ छिंदिज्ज व बोहियखोभाइ दीहडको वा। आगारेहिं अभग्गो उस्सग्गो एवमाइएहिं ॥१॥

(प०–) 'अगणीओ छिंदेज्ज वे'त्यादि,–अग्निर्वा स्पृशेत्। स्वस्य कायोत्सर्गालम्बनस्य च गुर्वादिरन्तरालभुवं वा कश्चिदवच्छिन्द्यात्। 'बोहिका' मानुषचौरा'। 'क्षोभः' स्वराष्ट्रपरराष्ट्रकृतः। 'आदि'शब्दात् गृहप्रदीपनकग्रह।, 'दीर्घो'=दीर्घकायः सर्प्पादि', 'दष्टो वा' तेनैव। ततस्तेषां प्रतिविधानेऽपि न कायोत्सर्गभङ्ग इति भाव'।

(ल०–आगारेहिं अभग्गो अविराहिओ हुज्ज मे काउस्सग्गो) आक्रियन्त इत्याकारा आगृह्यन्त इति भावना; सर्वथा कायोत्सर्गापवादप्रकारा इत्यर्थः। तैः आकारैर्विद्यमानैरपि, न भग्नोऽभग्नः, भग्नः–सर्वथा नाशितः। न विराधितोऽविराधितः, विराधितः देशभग्नोऽभिधीयते। भूयात् 'मे'=मम कायोत्सर्ग्गः।

(अपवादप्रकाराः-) तत्रानेन सहजास्तथा अल्पेतरनिमित्ता आगन्तवो नियमभाविनश्चाल्पा बाह्यनिबन्धना बाह्याश्चातिचारजातय इत्युक्तं भवति,: ● उच्छ्वासनिःश्वासग्रहणात् सहजाः, सचित्तदेहप्रतिबद्धत्वात्; ● कासितक्षुतजृम्भितग्रहणात् स्वल्पनिमित्ता आगन्तवः, स्वल्पपवनक्षोभादेस्तद्भावात्; ● उद्गारवातनिसर्गभ्रमिपित्तमूर्च्छाग्रहणात् पुनर्बहुनिमित्ता आगन्तव एव, महाजीर्णादेस्तदुपपत्तेः; ● सूक्ष्माङ्गखेलदृष्टिसंचारग्रहणाच्च नियमभाविनोऽल्पाः, पुरुषमात्रे सम्भवात्; ● एवमाद्युपलक्षितग्रहणाच्च बाह्यनिबन्धना बाह्याः, तद्द्वारेण प्रसूतेरिति।

(ल०–) उपाधिशुद्धं परलोकानुष्ठानं निःश्रेयसनिबन्धनमिति ज्ञापनार्थममीषामिहोपन्यासः। उक्तं चागमे,

'वयभङ्गे गुरुदोसो थेवस्सवि पालणा गुणकरी उ। गुरुलाघवं चणेय, धम्मंमि अओ उ आगारा ॥१॥'

इति। एतेनार्हच्चैत्यवन्दनायोद्यतस्योच्छ्वासादिसापेक्षत्वमशोभनम्, अभक्तेः, न हि भक्तिनिर्भरस्य क्वचिदपेक्षा युज्यते, इत्येदपि प्रत्युक्तम्, उक्तवदभक्त्ययोगात्। तथाहि,–का खल्वत्रापेक्षा?

अभिष्वङ्गाभावाद्, आगमप्रामाण्यात्। उक्तं च,

उस्सासं न निरुंभइ आभिग्गहिओ वि किमुय चेट्ठाए ?। सज्जमरणं निरोहे सुहुमुस्सासं तु जयणाए ॥

न च मरणमविधिना प्रशस्यत इति, अर्थहानेः, शुभभावनाऽयोगात्, स्वप्राणातिपातप्रसङ्गात्, तस्य चाविधिना निषेधात्। उक्तं च,

सव्वत्थ संजमं, संजमाओ अप्पाणमेव रक्खिज्जा। मुच्चइ अइवायाओ, पुणो विसोही न या विरई ॥

कृतं प्रसंगेन।

(ल०—) कियन्तं कालं यावत् तिष्ठामीत्यत्राह 'जाव अरिहंताणमि'त्यादि। यावदिति कालावधारणम्(णे)। अशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यलक्षणां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तः, तेषामर्हताम्, भगः समग्रैश्वर्यादिलक्षणः, स विद्यते येषां ते भगवन्तः, तेषां सम्बन्धिना नमस्कारेण 'नमो अरिहंताणं'ति अनेन। 'न पारयामि'—न पारं गच्छामि। तावत्किमित्याह 'ताव कायं ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि'। तावच्छब्देन कालनिर्देशमाह, 'कायं'-देहं, 'स्थानेन'—ऊर्ध्वस्थानेन हेतुभूतेन, तथा 'मौनेन' वाग्निरोधलक्षणेन, तथा 'ध्यानेन'—धर्मध्यानादिना, 'अप्पाणं'—प्राकृतशैल्या आत्मीयम्। अन्ये न पठन्त्येवैनमालापकम्। 'वोसिरामि'—'व्युत्सृजामि'—परित्यजामि। इयमत्र भावना, कायं स्थान-मौन-ध्यान-क्रियाऽव्यतिरेकेण क्रियान्तराध्यासमधिकृत्य व्युत्सृजामि। नमस्कारपाठं यावत् प्रलम्बभुजो निरुद्धवाक्प्रसरः प्रशस्तध्यानानुगतस्तिष्ठामीति। ततः कायोत्सर्गं करोतीति। जघन्यो(प्र०... जघन्यतो)ऽपि तावदष्टोच्छ्वासमानः।

(ल०—अष्टोच्छ्वासकायोत्सर्गनिषेधकमतखण्डनम्ः—)इह च प्रमादमदिरामदोपह(प्र०...ह)तचेतसो यथावस्थितं भगवद्वचनमनालोच्य तथाविधजनासेवनमेव प्रमाणयन्तः पूर्वापरविरुद्धमित्थमभिदधति,—'उत्सूत्रमेतत्, साध्व्यादिलोकेनानाचरितत्वात्'। एतच्चायुक्तम्, अधिकृतकायोत्सर्गसूत्रस्यैवार्थान्तराभावात्, उक्तार्थतायां चोक्ताविरोधात्।

(पं०—) 'उक्तार्थे'त्यादि, उक्तो=व्याख्यात' कायोत्सर्गलक्षणो अर्थः=अभिधेयं, यस्य प्रकृतदण्डकस्य तद्भावस्तत्ता, तस्या, 'च'=पुनरर्थे; 'उक्ताविरोधात्'=अष्टोच्छ्वासमानकायोत्सर्गाविरोधात्।

(ल० कायोत्सर्गमानेऽर्थापत्तिः—) अथ 'भवत्वयमर्थः कायोत्सर्गकरणे, न पुनरयं स' इति।

(प०—) 'अथे'ति पराकूतसूचनार्थः। 'भवतु'—पवर्त्तताम्, 'अयं' नियतप्रमाणकायोत्सर्गलक्षणो, 'अर्थः' वन्दनाद्यर्थं 'कायोत्सर्गकरणे' अभ्युपगम्यमाने, एवं तर्हि किमत्र क्षुण्णमिति ? आह 'न पुनः'=न तु, 'अयं' दण्डकार्थः, 'स'=कायोत्सर्गः। 'इतिः' परवक्तव्यतासमाप्त्यर्थः।

(ल०—कायोत्सर्गनियतप्रमाणसिद्धिः—) किमर्थमुच्चारणमिति वाच्यम्। वन्दनार्थमिति चेत्, न; अतदर्थत्वात्; अतदर्थोच्चारणे चातिप्रसङ्गात्। कायोत्सर्गयुक्तमेव वन्दनमिति चेत्, कर्तव्यस्तर्हि स इति। भुजप्रलम्बमात्रः क्रियत एवेति चेत्, न, तस्य प्रतिनियत(प्र०...नित्य)प्रमाणत्वात्; चेष्टाभिभवभेदेन द्विप्रकारत्वात्। उक्तं च,

'सो उस्सग्गो दुविहो, चेट्ठाए अभिभवे य णायव्वो ।
भिक्खायरियाइ पढमो, उस्सग्गभिओ(प्र०...उं)जणे बीओ ॥'

अयमपि चानयोरन्यतरः स्यात्, अन्यथा कायोत्सर्गत्वायोगः । न चाभिभवकायोत्सर्ग एषः, तल्लक्षणायोगात्, एकरात्रिक्यादौ तद्भावात्; चेष्टाकायोत्सर्गस्य चाणीयसोऽप्युक्तमानत्वात् । उक्तं च,

'उद्देससमुद्देसे सत्तावीसं अणुण्णवणियाए । अट्ठेव य उस्सासा पट्ठवणपडिक्कमणमाई ॥'

(ल०—आगमगाथायां वन्दनकायो० समावेशः—) 'अत्रायं न गृहीत इति' चेत्, न, 'आदि' शब्दावरुद्धत्वाद्, उपन्यस्तगाथासूत्रस्योपलक्षणत्वाद्, अन्यत्रापि चागमे एवंविधसूत्रादनुक्तार्थसिद्धेः । उक्तं च,

'गोसमुहणंतगादी आलोइय देसिए य अइयारे । सव्वे समाणइत्ता हियए दोसे ठवेज्जाहि ॥'

अत्र मुखवस्त्रिकामात्रोक्तेः 'आदि'शब्दाच्छेषोपकरणादिपरिग्रहोऽवसीयते सुप्रसिद्धत्वात् प्रतिदिवसोपयोगाच्च न भेदेनोक्त इति । 'अनियतत्वाद् दिवसातिचारस्य युज्यत एवेहादिशब्देन सूचनं, नियतं च वन्दनं, तत्कथं तदसाक्षाद्ग्रह इति' चेत्, न, तत्रापि रजोहरणाद्युपधिप्रत्युपेक्षणस्य नियतत्वात् । 'समानजातीयोपादानादिह एतद्ग्रहणमस्त्येव । समानजातीयं च मुखवस्त्रिकायाः शेषोपकरणमिति' चेत्, तत्रापि तन्मानकायोत्सर्गलक्षणं समानजातीयत्वमस्त्येवेति मुच्यतामभिनिवेशः ।

(ल०—आचरणा—प्रमाणम्:—) न चेदं साध्वादिलोकेनानाचरितमेव, क्वचित्तदाचरणोपलब्धेः, आगमविदाचरणश्रवणाच्च । न चैवंभूतमाचरितमपि प्रमाणं, तल्लक्षणायोगात् । उक्तं च,

असढेण(प्र० हिं)समाइण्णं जं कत्थइ केणई असावज्जं । ण णिवारियमन्नेहि य बहुमणुमयमेयमायरियं ॥

न चैतदसावद्यं सूत्रार्थविरोधात् (प्र०...न चैतत् सावद्यं, सूत्रार्थाविरोधात्), सूत्रार्थस्य प्रतिपादितत्वात्, तस्य चाधिकतरगुणान्तरभावमन्तरेण तथाकरण(प्र०...तथाऽकरण)विरोधात् । न चान्यैरनिवारितं, तदासेवनपरैरागमविद्भिर्निवारितत्वात् । अत एव न बहुमतमपीति भावनीयम् । अलं प्रसंगेन, यथोदितमान एवेह कायोत्सर्ग इति ।

(ल०—विशिष्टध्येयध्यानं विद्याजन्मबीजम्—) इहोच्छ्वाससमानमित्थं, न पुनर्ध्येयनियमः । यथापरिणामेनैतत्स्थापनेशगुणतत्त्वानि वा स्थानवर्णार्थालम्बनानि वा, आत्मीयदोषप्रतिपक्षो वा । एतद् विद्याजन्मबीजं, तत् पारमेश्वरम्, अतः इत्थमेवोपयोगशुद्धेः । शुद्धभावोपात्तं कर्म अवन्ध्यं, सुवर्णघटाद्युदाहरणात् । एतदुदयतो विद्याजन्म कारणानुरूपत्वेन ।

(पं०—) 'एतद् विद्ये'त्यादि, एतत्=प्रतिविशिष्टध्येयध्यानं, विद्याजन्मबीजं=विवेकोत्पत्तिकारणं, 'तद्' इति शास्त्रसिद्धं, 'पारमेश्वरं'=परमेश्वरप्रणीतम् । हेतुमाह 'अतः'=प्रतिविशिष्टध्येयध्यानाद्, 'इत्थमेव'=विद्याजन्मानुरूपप्रकारेणैव, 'उपयोगशुद्धेः'=चैतन्यवृत्तेर्निर्मलीभावात् । एतदेव भावयति 'शुद्धभावोपात्त' शुद्धः अधिकृतकायोत्सर्गध्यानादिरूपो भावः, तदुपात्तं 'कर्म' सद्वेद्यादि, 'अवन्ध्यम्'=अवश्यं शुद्धभावफलदायि । कथमित्याह 'सुवर्णघटाद्युदाहरणेन'=यथा सुवर्णघटो भग्नेऽपि सुवर्णफल एव, 'आदि'शब्दाद् रूप्यघटादिपरि-

ग्रह., तथा प्रकृतकर्म्मापीति । यद्येवं तत किम् ? इत्याह, 'एतदुदयतः'=शुद्धभावोपात्तकर्म्मोदयत, 'विद्या-जन्म' विवेकोत्पत्तिलक्षणं, कुत इत्याह 'कारणानुरूपत्वेन'=कारणस्वरूपानुविधायी हि कार्यस्वभावः, ततः कथमिव शुद्धभावोपात्तं कर्म्म न शुद्धभावहेतुः स्यात् ? (प्र० ...कर्म्म अशुद्धभाव०)

(ल०–वर्चोगृहकृमिदृष्टान्तः–) युक्त्यागमसिद्धमेतत् , तल्लक्षणानुपाती च,

१. वर्चोगृहकृमेर्यद्वद् मानुष्यं प्राप्य सुन्दरम् । तत्प्राप्तावपि तत्रेच्छा न पुनः संप्रवर्त्तते ॥
२. विद्याजन्माप्तितस्तद्वद् विषयेषु महात्मनः । तत्त्वज्ञानसमेतस्य न मनोऽपि प्रवर्त्तते ॥
३. विषग्रस्तस्य मन्त्रेभ्यो निर्विषाङ्गोद्भवो यथा । विद्याजन्मन्यलं मोहविषत्यागस्तथैव हि ॥
४. शैवे मार्गेऽत एवासौ याति नित्यमखेदितः । न तु मोहविषग्रस्त इतरस्मिन्निवेतरः ॥
५. क्रियाज्ञानात्मके योगे सातत्येन प्रवर्त्तनम् । वीतस्पृहस्य सर्वत्र यानं चाहुः शिवाध्वनि ॥

इति वचनात् । अवसितमानुषङ्गिकम् । प्रकृतं प्रस्तुमः ।

(पं०–) अस्यैव हेतोः सिद्ध्यर्थमाह–'युक्त्यागमसिद्धं', युक्तिः अन्वयव्यतिरेकविमर्शरूपा, **आगमश्च** 'जं जं समयं जीवो आविसइ जेण जेण भावेणे'त्यादिरूपः, ताभ्यां सिद्धं=प्रतिष्ठितम्, 'एतद्'=कारणानुरूपत्वं कार्यस्य । सिद्ध्यतु नामेदमन्यकार्येषु, प्रकृते न सेत्स्यतीत्यत आह 'तल्लक्षणानुपाति च'=युक्त्यागमसिद्धकारणानुरूपकार्यलक्षणानुपाति च विद्याजन्म । कुत इत्याह 'इति वचनादि'ति वक्ष्यमाणेन सबन्धः । वचनमेव दर्शयति 'वर्चोगृहे'त्यादि श्लोकपञ्चकं, सुगमशब्दार्थं च । नवरम्, 'इतरस्मिन्निवेतरः' इति यथा इतरस्मिन्=संसारमार्गे, इतरो=मोहविषेणाग्रस्तो विवेकी, नित्यमखेदितो न याति, तथा शैवे मार्गे मोहविषग्रस्तो न याति; खेदितस्तु कोऽपि कथञ्चिद् द्रव्यत उभयत्रापि यातीति भाव. । अभिप्रायः पुनरयम् ,– अनुरूपकारणप्रभवे हि विद्याजन्मनि विषयवैराग्यक्रियाज्ञानात्मके योगे सातत्यप्रवृत्तिलक्षणं च शिवमार्गगमनं तत्फलमुपपद्यते(प्र०...उत्पद्यते, उपयुज्यते) नान्यथेति ।

॥ इति श्री मुनिचंद्रसूरिकृतायां ललितविस्तरापञ्जिकायामर्हच्चैत्यदंडकः समाप्तः ॥

(ल० कायोत्सर्गान्तेः–) स हि कायोत्सर्गान्ते यद्येक एव ततो 'नमो अरहंताणं'ति नमस्कारेणोत्सार्य्य स्तुतिं पठत्यन्यथा प्रतिज्ञाभङ्गः, 'जाव अरहंताणं'...इत्यादिनास्यैव प्रतिज्ञातत्वात् , नमस्कारत्वेनास्यैव रूढत्वाद् , अन्यथैतदर्थाभिधानेऽपि दोषसम्भवात् , तदन्यमन्त्रादौ तथादर्शनादिति । अथ बहवस्तत एक एव स्तुतिं पठति, अन्ये तु कायोत्सर्गेणैव तिष्ठन्ति यावत्स्तुतिपरिसमाप्तिः । अत्र चैवं वृद्धा वदन्ति,–यत्र किलाऽऽयतनादौ वन्दनं चिकीर्षितं तत्र यस्य भगवतः सन्निहितं स्थापनारूपं, तं पुरस्कृत्य प्रथमः कायोत्सर्गः स्तुतिश्च, तथाशोभनभावजनकत्वेन तस्यैवोपकारित्वात् । ततः सर्वेऽपि नमस्कारोच्चारणेन पारयन्तीति ।

॥ व्याख्यातं वन्दनाकायोत्सर्गसूत्रम् ॥

चतुर्विंशति स्तव ('लोगस्स उज्जोअगरे') सूत्र

(ल०—लोकशब्दार्थः—) पुनरत्रान्तरेऽस्मिन्नेवावसर्पिणीकाले ये भारते तीर्थकृतस्तेषामेवैकक्षेत्रनिवासादिनाऽऽसन्नतरोपकारित्वेन कीर्त्तनाय चतुर्विंशतिस्तवं पठति पठन्ति वा । स चायम्,—

'लोगस्स उज्जोअगरे धम्मतित्थयरे जिणे । अरिहंते कित्तइस्सं चउवीसंपि केवली ॥'

अस्य व्याख्या,—'लोकस्योद्योतकरानि'त्यत्र विज्ञानाद्वैतव्युदासेनोद्योत्योद्योतकयोर्भेदसंदर्शनार्थं भेदेनोपन्यासः । लोक्यत इति लोकः । लोक्यते=प्रमाणेन दृश्यत इति भावः । अयं चेह तावत्पञ्चास्तिकायात्मको गृह्यते । तस्य लोकस्य किम् ? उद्योतकरणशीला उद्योतकरास्तान्, केवलालोकेन तत्पूर्वकेवचनदीपेन वा सर्वलोकप्रकाशकरणशीलानित्यर्थः ।

(ल०—'धम्मतित्थयरे जिणे अरिहंते'—) तथा दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः । उक्तं च,

'दुर्गतिप्रसृताञ्जीवान् यस्माद्धारयते ततः । धत्ते चैतान् शुभे स्थाने तस्माद्धर्म इति स्मृतः ॥१॥'

इत्यादि । तथा तीर्यतेऽनेनेति तीर्थम् । धर्म एव धर्मप्रधानं वा तीर्थं धर्मतीर्थं, तत्करणशीला धर्मतीर्थकरास्तान् । तथा रागादिजेतारो जिनास्तान् । तथाऽशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यादिरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तस्तानर्हतः ।

(ल०—'कीत्तइस्सं चउवीसं पि केवली'—) 'कीर्तयिष्यामि' इति स्वनामभिः स्तोष्ये इत्यर्थः । 'चतुर्विंशतिमि'ति संख्या । 'अपि' शब्दो भावतस्तदन्यसमुच्चयार्थः । केवलज्ञानमेषां विद्यत इति केवलिनस्तान् केवलिनः ।

(पं०—) 'भावतस्तदन्यसमुच्चयार्थ' इति, भावतः=नामस्थापनाद्रव्यार्हत्परिहारेण, शुभाध्यवसायतो वा, 'तदन्येषाम्'=ऋषभादिचतुर्विंशतिव्यतिरिक्तानाम् ऐरवतमहाविदेहजानामर्हता, (समुच्चयार्थः=) सङ्ग्रहार्थः । तदुक्तम् 'अविसद्दग्गहणा पुण एरवयमहाविदेहे' य ।

(ल० लोकोद्योतकरादिविशेषणसार्थक्यम्—) अत्राह,—'लोकस्योद्योतकरानित्येतावदेव साधु, धर्मतीर्थकरानिति न वाच्यं, गतार्थत्वात् । तथाहि, ये लोकस्योद्योतकराः, ते धर्मतीर्थकरा एवेति' । अत्रोच्यते,—इह लोकैकदेशेऽपि ग्रामैकदेशे ग्रामवल्लोकशब्दप्रवृत्तेः मा भूत्तदुद्योतकरेष्ववधिविभङ्गज्ञानिष्वर्कचन्द्रादिषु वा संप्रत्यय इत्यतस्तद्व्यवच्छेदार्थं धर्मतीर्थकरानिति । आह, 'यद्येवं, धर्मतीर्थकरानित्येतावदेवास्तु, लोकस्योद्योतकरानिति न वाच्यमिति' । अत्रोच्यते, इह लोके येऽपि नद्यादिविषमस्थानेषु मुग्धिकया धर्मार्थमवतरणतीर्थकरणशीलास्तेऽपि धर्मतीर्थकरा एवोच्यन्ते, तन्मा भूदतिमुग्धबुद्धीनां तेषु संप्रत्यय इत्यतस्तदपनोदाय लोकस्योद्योतकरानप्याहेति ।

(ल०—इतरतीर्थकर्तरि जिनत्वाभावः—) अपरस्त्वाह 'जिनानित्यतिरिच्यते; तथाहि,—यथोक्तप्रकारा जिना एव भवन्तीति ।' अत्रोच्यते, मा भूत्कुनयमतानुसारिपरिकल्पितेषु यथोक्तप्रकारेषु

संप्रत्यय इत्यतस्तदपोहायाह 'जिनानि'ति । श्रूयते च कुनयदर्शने,

'ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य कर्त्तारः परमं पदम् । गत्वाऽऽगच्छन्ति भूयोऽपि भवं तीर्थनिकारतः ॥' इत्यादि । तन्नूनं ते न रागादिजेतार इति; अन्यथा कुतो निकारतः पुनरिह भवाङ्कुरप्रभवो, बीजाभावात् । तथा चान्यैरप्युक्तम्—

'अज्ञानपांशुपिहितं, पुरातनंकर्म्मबीजमविनाशि । तृष्णाजलाभिषिक्तं मुञ्चति जन्माङ्कुरं जन्तोः' ॥

तथा, 'दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः । कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः ॥' इत्यादि ।

(ल०—विविधा जिनाः—) आह 'यद्येवं जिनानित्येतावदेवास्तु, लोकस्योद्योतकरानित्याद्यतिरिच्यते' इति । अत्रोच्यते, इह प्रवचने सामान्यतो विशिष्टश्रुतधरादयोऽपि जिना एवोच्यन्ते; तद्यथा,—श्रुतजिनाः अवधिजिनाः मनःपर्यायजिनाः, छद्मस्थवीतरागाश्च, तन्मा भूत् तेष्वेवंसम्प्रत्यय इति तद्व्युदासार्थं लोकस्योद्योतकरानित्याद्यप्यदुष्टमिति ।

(ल०—'अरिहंते'पदं किमर्थम्—) अपरस्त्वाह 'अर्हत' इति न वाच्यं, नह्यनन्तरोदितस्वरूपा अर्हद्व्यतिरिकेणापरे भवन्तीति' । अत्रोच्यते, अर्हतामेव विशेष्यत्वान्न दोष इति । आह,—'यद्येवं हन्त ! तर्ह्यर्हत इत्येतावदेवास्तु लोकस्योद्योतकरानित्यादि पुनरपार्थकम् ।' न, तस्य नामाद्यनेकभेदत्वात् भावार्हत्संग्रहार्थत्वादिति ।

(ल०—'केवली' पदं किमर्थम् ?—) अपरस्त्वाह,—"केवलिन इति न वाच्यं, यथोदितस्वरूपाणामर्हतां केवलित्वाव्यभिचारात्; सति च व्यभिचारसंभवे विशेषणोपादानसाफल्यात् तथा च संभवे व्यभिचारस्य विशेषणमर्थवद् भवति, यथा नीलोत्पलमिति । व्यभिचाराभावे तु तदुपादीयमानमपि यथा 'कृष्णो भ्रमरः, शुक्लो बलाहक' इत्यादि ऋते प्रयासात् कमर्थं पुष्णातीति । तस्मात् केवलिन इत्यतिरिच्यते ।"

(ल०—विशेषणदानं त्रितयार्थम्—) न, अभिप्रायापरिज्ञानात् । इह केवलिन एव यथोक्तस्वरूपा अर्हन्तो नान्ये इति नियमार्थत्वेन स्वरूपज्ञापनार्थमेवेदं विशेषणमित्यनवद्यम् । न चैकान्ततो व्यभिचारसंभवे एव विशेषणोपादानसाफल्यम्, उभयपदव्यभिचारे, एकपदव्यभिचारे, स्वरूपज्ञापने च शिष्टोक्तिषु तत्प्रयोगदर्शनात् । तत्रोभयपदव्यभिचारे, यथा नीलोत्पलमिति । तथैकपदव्यभिचारे, यथा—अब्द्रव्यं, पृथिवी द्रव्यमिति । तथा स्वरूपज्ञापने, यथा—परमाणुरप्रदेश इत्यादि । यतश्चैवमतः केवलिन इति न दुष्टम् ।

(ल०—) आह, यद्येवं 'केवलिन इत्येतावदेव सुन्दरं, शेषं तु लोकस्योद्योतकरानित्यादि किमर्थम्(प्र०...अपि न वाच्यम्) ? इत्यत्रोच्यते, इह 'श्रुतकेवलिप्रभृतयोऽन्येऽपि विद्यन्त एव केवलिनः, तन्माभूत् तेष्वेव(वं)संप्रत्यय इति तत्प्रतिषेधार्थं लोकस्योद्योतकरानित्याद्यपि वाच्यमिति । एवं द्व्यादिसंयोगापेक्षयापि विचित्रनयमताभिज्ञैन स्वधिया(प्र०...सुधिया) विशेषणसाफल्यं वाच्यमित्यलं विस्तरेण । गमनिकामात्रमेतदिति ।

(ल०-गाथा २-३-४-) तत्र यदुक्तं 'कीर्त्तयिष्यामी'ति तत् कीर्त्तनं कुर्वन्नाह

उसभमजिअं च वंदे संभवमभिणंदणं च सुमइं च । पउमप्पहं सुपासं जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥२॥
सुविहिं च पुप्फदंतं सीअल-सिज्जंस-वासुपुज्जं च । विमलमणंतं च जिणं धम्मं संतिं च वंदामि ॥३॥
कुंथुं अरं च मल्लिं वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च । वंदामि रिट्ठनेमिं पासं तह वद्धमाणं च ॥४॥

एता निगदसिद्धा एव । नामान्वर्थनिमित्तं त्वावश्यके 'ऊरूसु उसभलञ्छण उसभं सुमिणंमि तेण उसभजिणो ।' इत्यादिग्रन्थादवसेयमिति ।

(ल० गाथा-५-) कीर्त्तनं कृत्वा चेतःशुद्ध्यर्थं प्रणिधि(प्र०...प्रणिधान)माह-

'एवं मए अभिथुआ विहुयरयमला पहीणजरमरणा । चउवीसं पि जिणवरा तित्थयरा मे पसीयंतु ॥५॥'

व्याख्या-'एवं' अन्तरोदितेन विधिना । 'मये'त्यात्मनिर्देशमाह । 'अभिष्टुता(प्र०...स्तुता)' इति आभिमुख्येन स्तुता अभिष्टुताः(प्र०...स्तुता), स्वनामभिः कीर्तिताः इत्यर्थः । किं विशिष्टास्ते 'विधूतरजोमलाः', तत्र रजश्च मलं च रजोमले 'विधूते' प्रकम्पिते, अनेकार्थत्वाद्धातूनाम् अपनीते रजोमले यैस्ते तथाविधाः । तत्र वध्यमानं कर्म रजोऽभिधीयते, पूर्वबद्धं तु मलमिति । अथवा बद्धं रजः, निकाचितं मलम्; अथवैर्यापथं रजः, सांपरायिकं मलमिति ।

(ल०-) यतश्चैवंभूता अत एव 'प्रक्षीणजरामरणाः', कारणाभावादित्यर्थः । तत्र 'जरा' वयोहानिलक्षणा, 'मरणं' प्राणत्यागलक्षणं, प्रक्षीणे जरामरणे येषां ते तथाविधाः । 'चतुर्विंशतिरपि', 'अपि' शब्दादन्येऽपि । 'जिनवराः'=श्रुतादिजिनप्रधानाः । ते च सामान्यकेवलिनोऽपि भवन्ति, अत आह 'तीर्थकराः' इति । एतत् समानं पूर्वेण । 'मे'=मम, किं ? 'प्रसीदन्तु'=प्रसादपरा भवन्तु ।

(ल०-प्रार्थनात्वखण्डनम्-) आह,-'किमेषा प्रार्थना, अथ न ? इति । यदि प्रार्थना, न सुन्दरैषा, आशंसारूपत्वात् । अथ न, उपन्यासोऽस्या अप्रयोजन इतरो वा ? अप्रयोजनश्चेदचारु वन्दनसूत्रं, निरर्थकोपन्यासयुक्त(प्र०...रूप)त्वात् । अथ सप्रयोजनः, कथमयथार्थतया तत्सिद्धिरिति ।

अत्रोच्यते, न प्रार्थनैषा, तल्लक्षणानुपपत्तेः । तदप्रसादाक्षेपिकैषा, तथालोकप्रसिद्धत्वात्, अप्रसन्नं प्रति प्रसाद(प्रार्थना)दर्शनात्, अन्यथा तदयोगात्, भाव्यप्रसादविनिवृत्त्यर्थं वा, उक्तादेव हेतोः । इति उभयथापि तद्वीतरागता ।

(ल०-अग्निचिन्तामणिदृष्टान्ताभ्यामर्हदुपासनाफलम्-) अत एव स्तव(प्र०...सूत्र)धर्मव्यतिक्रमः, अर्थापत्त्याक्रोशात् अनिरूपिताभिधान(प्र०...अनिरूपितविधान)द्वारेण । न खल्वयं वचनविधिरार्याणां, तत्त्वबाधनात् । वचनकौशलोपेतगम्योऽयं मार्गः । अप्रयोजन-सप्रयोजनचिन्तायां तु न्याय्य उपन्यासः, भगवत्स्तवरूपत्वात् । उक्तं च,

क्षीणक्लेशा एते न हि प्रसीदन्ति न स्तवोऽपि वृथा । तत्स्वभावविशुद्धेः प्रयोजनं कर्मविगम इति ।१।
स्तुत्या अपि भगवन्तः परमगुणोत्कर्षरूपतो ह्येते । दृष्टा ह्यचेतनादपि मन्त्रादिजपादितः सिद्धिः ।२।

यस्तु स्तुतः प्रसीदति रोषमवश्यं स यति निन्दायाम् । सर्वत्रासमचित्तः स्तुत्यो मुख्यः कथं भवति ।३।
शीतार्दितेषु हि यथा द्वेषं वह्निर्न याति रागं वा । नाह्वयति वा तथापि च तमाश्रिताः स्वेष्टमश्नुवते ।४।
तद्वत्तीर्थकरान् ये त्रिभुवनभावप्रभावकान् भक्त्या । समुपाश्रिता जनास्ते भवशीतमपास्य यान्ति शिवम् ।५।

एतदुक्तं भवति,—यद्यपि ते रागादिभी रहितत्वान्न प्रसीदन्ति, तथापि तानुद्दिश्याचिन्त्य-चिन्तामणिकल्पान् अन्तःकरणशुद्ध्याऽभिष्टवकर्तॄणां तत्पूर्विकैवाभिलषितफलावाप्तिर्भवतीति गाथार्थः ।५।

(ल०—गाथा -६ः—) तथा,

कित्तियवन्दियमहिया जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा । आरुग्गबोहिलाभं समाहिवरमुत्तमं दिंतु ॥६॥

व्याख्या कीर्तिताः=स्वनामभिः प्रोक्ताः, वन्दिताः=त्रिविधयोगेन सम्यक् स्तुताः, महिताः=पुष्पादिभिः पूजिताः, क एते इत्यत आह य एते लोकस्य=प्राणिलोकस्य मिथ्यात्वादिकर्ममलकलङ्काभावेन, उत्तमाः=प्रधानाः, ऊर्ध्वं वा तमस इत्युत्तमसः, 'उत् प्राबल्योर्ध्वगमनोच्छेदनेषु' इति वचनात् प्राकृतशैल्या पुनरुत्तमा उच्यन्ते; 'सिद्धाः' इति, सितं—बद्धम् , ध्मातमेषामिति सिद्धाः कृतकृत्या इत्यर्थः; अरोगस्य भावः 'आरोग्यं'=सिद्धत्वं, तदर्थं 'बोधिलाभः' आरोग्यबोधिलाभः, जिनप्रणीतधर्मप्राप्तिर्बोधिलाभोऽभिधीयते, तम् । स चानिदानो मोक्षायैव प्रशस्यत इति ।

(ल०—) तदर्थमेव च तावत् किम् ? अत आह (समाहिवरम्), समाधानं समाधिः, स च द्रव्यभावभेदाद् द्विविधः । तत्र द्रव्यसमाधिः यदुपयोगात् स्वास्थ्यं भवति येषां वाऽविरोध इति । भावसमाधिस्तु ज्ञानादिसमाधानमेव, तदुपयोगादेव परमस्वास्थ्ययोगादिति । यतश्चायमित्थं द्विधा, अतो द्रव्यसमाधिव्यवच्छेदार्थमाह 'वरं'=प्रधानं भावसमाधिमित्यर्थः । असावपि तारतम्यभेदेनानेकधैव, अत आह 'उत्तमं'=सर्वोत्कृष्टं, 'ददतु'=प्रयच्छन्तु ।

(ल०—निदानानिदानप्रश्नः—) आह—'किमिदं निदानमुत न ? इति । यदि निदानमलमनेन, सूत्रप्रतिषिद्धत्वात् । न चेत् , सार्थकमनर्थकं वा ? यद्याद्यः पक्षः, तेषां रागादिमत्त्वप्रसङ्गः, प्रार्थनाप्रवणे(प्र०...प्रवीणे) प्राणिनि तयादानात् । अथ चरमः, तत आरोग्यादिप्रदानविकला एते इति जानानस्यापि प्रार्थनायां मृषावादप्रसङ्ग इति ।'

(ल०—निदानलक्षणं धर्मकल्पतरुश्च) अत्रोच्यते,—न निदानमेतत् , तल्लक्षणायोगात् । द्वेषाभिष्वङ्गमोहगर्भं हि तत् , तथा तन्त्रप्रसिद्धत्वात् ।

(पं०—) 'न निदाने'त्यादि, न=नैव, निदानं नितरां दायते-लूयते सम्यग्दर्शनप्रपञ्चवहलमूलजालो ज्ञानादिविषयविशुद्धविनयविधिसमुद्धुरस्कन्धबन्धो विहितावदातदानादिभेदप्रभेदशाखोपशाखाखचितो(प्र० ..उपचितो) निरतिशयसुरनरभवप्रभवसुखसंपत्तिप्रसूनाकीर्णोऽनभ्यर्णीकृतनिखिलव्यसनव्याकुलशिवालयशर्मफलोल्वणो धर्मकल्पतरुरनेन सुरद्धर्याद्याशंसनपरिणामपरशुनेति निदानम् । 'एतद्'=आरोग्यबोधिलाभादिप्रार्थनम् । कुत इत्याह 'तल्लक्षणायोगात्'=निदानलक्षणाघटनात् । निदानलक्षणमेव भावयन्नाह 'द्वेषाभिष्वङ्गमोहगर्भं हि तत्',

द्वेषो=मत्सरः, अभिष्वङ्गो=विषयानुरागो, मोहः=अज्ञानं, ततस्ते द्वेषाभिष्वङ्गमोहाः, गर्भाः=अन्तरङ्गकारणं यस्य तत् तथा, हिः=यस्मात्, तत्=निदानम्। कुत इत्याह 'तथा'–द्वेषादिगर्भतया, 'तन्त्रप्रसिद्धत्वात्'= निदानस्यागमे रूढत्वात्। रागद्वेषगर्भयोर्निदानयोः सम्मूत्यग्निशर्मादिषु प्रसिद्धत्वेन तल्लक्षणस्य सुबोधत्वात् निर्देशमनादृत्य मोहगर्भनिदानलक्षणमाह;

(ल०–निदानहेतुभूतमोहलक्षणम्:–) धर्माय हीनकुलादिप्रार्थनं मोहः, अतद्धेतुकत्वात्। ऋद्ध्यभिष्वङ्गतो धर्मप्रार्थनापि मोहः, अतद्धेतुकत्वादेव।

(पं०–) 'धर्माय', धर्मनिमित्तमित्यर्थः; 'हीनकुलादिप्रार्थनं', हीनं=नीचं विभवधनादिभिः, यत् 'कुलम्'=अन्वय, आदिशब्दात् कुरूपत्व-दुर्भगत्वा-ऽनादेयत्वादिग्रहः, भवान्तरे तेषां प्रार्थनम्=आशंसनम्। किमित्याह 'मोहः'=मोहगर्भं निदानम्। कुत इत्याह 'अतद्धेतुकत्वाद्'=अविद्यमानास्ते हीनकुलादयो हेतवो यस्य स तथा, तद्भावस्तत्त्वं, तस्मात्। अहीनकुलादिभावभाजो हि भगवन्त इव(एव)अविकलधर्मभाजन भव्या भवितुमर्हन्ति नेतरे इति। उक्तं च,

'हीनं कुलं बान्धववर्जितत्वम्, दरिद्रतां वा जिनधर्मसिद्ध्यै(प्र०.. द्धौ)।
प्रयाचमानस्य विशुद्धवृत्ते संसारहेतुर्गदितं निदानम्॥'

प्रकारान्तरेणापीदमाह 'ऋद्ध्यभिष्वङ्गतः'=पुरन्दरचक्रवर्त्यादिविभूत्यनुरागेण, 'धर्मप्रार्थनापि'= 'नून धर्माराधनमन्तरेणेय विभूतिर्न भविष्यती'त्याशया(प्र०....आशंसया) धर्माशंसनमपि, किं पुनर्हीनकुलादि-प्रार्थनेति 'अपि'शब्दार्थः। किमित्याह 'मोहः' उक्तरूपः। कुत इत्याह 'अतद्धेतुकत्वाद्', अविद्यमान उप-सर्जनवृत्त्यागसितो धर्मो हेतुर्यस्याः सा तथा, तद्भावस्तत्त्व, तस्मादेव अनुपादेयतापरिणामेनैवोपहतत्वेन धर्मस्य ततोऽभिलषितऋद्ध्यसिद्धेः।

(ल०–तीर्थकरत्वनिदाननिषेधः:–) तीर्थकरे(प्र०...तीर्थकरत्वे)ऽप्येतदेवमेव प्रतिषिद्धमिति।

(पं०–) यत एवं ततः 'तीर्थकरेऽपि'=अष्टमहाप्रातिहार्यपूजोपचारभाजि प्राणिविशेषे, किं पुनरन्यत्र पुरन्दरादौ विषयभूते ? 'एतत्'=प्रार्थनम्, 'एवमेव'–ऋद्ध्यभिष्वङ्गेणैव,–'यथायं भुवनाद्भुतभूतविभूतिभाजनं (प्र०. भुवनाद्भुतभूतिभाजन) भुवनैकप्रभुः प्रभूतभक्तिभरनिर्भरामरनिकरनिरन्तरनिषेव्यमाणचरणो भगवांस्तीर्थकरो वर्तते तथाहमप्यमुतस्तपःप्रभृतितोऽनुष्ठानाद् भूयासमि'त्येवंरूपं, न पुनर्यन्निरभिष्वङ्गचेतोवृत्ते'र्धर्मदिशोऽनेकसत्त्वहितो निरुपमसुखसञ्जनकोऽचिन्त्यचिन्तामणिकल्पो भगवान्, अहमपि तथा स्यामि'त्येवंरूपं, 'प्रतिषिद्धं'=निवारितं दशा-श्रुतस्कन्धादौ। तदुक्तं–

'एत्तो य दसाईसु तित्थयरम्मि वि नियाणपडिसेहो। जुत्तो भवपडिबद्धं(प्र०....बन्धं)सामिस्संगं तयं जेणं॥१॥
जं पुण निरभिस्संगं धम्माएसो अणेगसत्तहिओ। निरुवमसुहसंजणओ, अउव्वचिन्तामणिकप्पो॥२॥

इत्यादि।

(ल०–प्रकृतनिदाननिषेधयुक्तिः–) अत एवेष्टभावबाधकदेवत्, तयेच्छाया एव तद्विघ्नभूतत्वात्, तत्प्रधानतयेतरत्रोपसर्जनबुद्धिभावात्(प्र०...द्धित्वात्)।

(पं०—) 'अत एव'=ऋद्ध्यभिष्वङ्गतो धर्म्मप्रार्थनाया मोहत्वादेव, 'इष्टभाववाधिकृत्', इष्टो भावो= निर्वाणानुवन्धी कुशलः परिणामः, तस्य, वाधकृत्=व्यावृत्तिकारि 'एतत्'=प्रकृतनिदानं; कुत इत्याह 'तथेच्छाया एव'=धर्म्मोपसर्जनीकरणेन ऋद्ध्यभिलापस्यैव, 'तद्विघ्नभूतत्वाद्' = इष्टभावविवन्धक(प्र०... विवन्धन)भूतत्वाद्, एतत्कुत इत्याह 'तत्प्रधानतया'=ऋद्धिप्राधान्येन, 'इतरत्र'=धर्म्मे, 'उपसर्जनवुद्धिभावात्'= कारणमात्रत्वेन गौणाध्यवसायभावात् ।

(ल०—निदानगर्ह्यता:—) अतत्त्वदर्शनमेतत्, महदपायसाधनम् । अविशेपज्ञता हि गर्हिता ।

(पं०—) इदमेव विशेपतो भावयन्नाह 'अतत्त्वदर्शनमेतद्'=अपरमार्थावलोकनं, विपर्यास इत्यर्थः, एतत्—प्रकृतनिदानम् । कीदृगित्याह 'महदपायसाधनं'=नरकपाताद्यनर्थकारणम् । कुत इत्याह 'अविशेपज्ञता', सामान्येन गुणानां पुरुपार्थोपयोगिजीवाजीवधर्म्मलक्षणानां, दोषाणां तद्वितररूपाणां, तदुभयेपा च, विशेपो= विवरको विभाग इत्येकोऽर्थः, तस्य अनभिज्ञता विपरीतवोधरूपा, अर्थक्षयानर्थप्राप्तिहेतुतया हिंसानृतादिवत् 'हिः'=यस्मात्, 'गर्हिता'=दूपिता ।

(ल०—प्राकृतजनविवेकः—) पृथग्जनानामपि सिद्धमेतत् ।

(पं०—) ननु कथमिदं प्रत्येयमित्याशङ्क्याह 'पृथग्जनानामपि', पृथक्—तथाविधालौकिकसामयिकाचारविचारादेर्वहिःस्थिता वहुविधा वालादिप्रकारा, जनाः—प्राकृतलोकाः, पृथग्जनाः, तेपामपि, किं पुनरन्येपां शास्त्राधीनधियां सुधियामिति 'अपि'शब्दार्थः; 'सिद्धं'=प्रतीतम्, 'एतद्'=अविशेपज्ञतागर्हणम् ।

'नार्घन्ति रत्नानि समुद्रजानि, परीक्षका यत्र न सन्ति देशे ।
आभीरघोषे किल चन्द्रकान्तं त्रिभिः वराटैर्विपणन्ति गोपाः ॥१॥
अस्यां सखे ! वधिरलोकनिवासभूमौ किं कूजितेन तव कोकिल ! कोमलेन ।
एते हि दैववशतस्तदभिन्नवर्णं त्वा काकमेव कलयन्ति कलानभिज्ञाः ॥२॥

इत्याद्यविशेपज्ञव्यवहाराणां तेपामपि गर्हणीयत्वेन प्रतीतत्वात् ।

(ल०—) योगिवुद्धिगम्योऽयं व्यवहारः । सार्थकानर्थकचिन्तायां तु भाज्यमेतत्, चतुर्थभाषारूपत्वात् ।

(पं०—) स्यादेतद्,—अभ्युदयफलत्वेन धर्म्मस्य लोके रूढत्वात्, तथैव च तत्प्रार्थनायां काऽविशेपज्ञता ? इत्याशङ्क्याह—'योगिवुद्धिगम्योऽयं व्यवहारः'=मुमुक्षुवुद्धिपरिच्छेद्योऽयं ऋद्ध्यभिष्वङ्गतो धर्म्मप्रार्थनाया अविशेपज्ञतारूपो व्यवहारः, धर्म्मस्य आरम्भावसानसुन्दरपरिणामरूपत्वाद्, ऋद्धेश्च पदे पदे विपदां पदभूतत्वान्महान् विशेपः; अन्यस्य च भवाभिष्वङ्गत इत्थं वोद्धुमशक्यत्वात् । 'सार्थकानर्थकचिन्तायां तु भाज्यमेतत् चतुर्थभाषारूपत्वादि'ति । अयमभिप्रायः,—चतुर्थी हि एपा भाषा आशंसारूपा न कञ्चन सिद्धमर्थं विधातुं निषेद्धुं वा समर्था—इत्यनर्थिका, प्रकृष्टशुभाध्यवसायः पुनः फलमस्या भवति—इति सार्थिका; इत्येवं भाज्यतेति ।

॥ इति श्री मुनिचंद्रसूरिविरचित—ललितविस्तरावृत्तिपंजिकायां चतुर्विंशतिस्तवः समाप्तः ॥

(ल०– चतुर्थभाषारूपप्रार्थनासमर्थकशास्त्रगाथाः–) तदुक्तं,–

भासा असच्चमोसा णवरं भत्तीए भासिया एसा । न हु खीणपेज्जदोसा देंति समाहिं च बोहिं च ॥१॥
तप्पत्थणाए तहवि य ण मुसावाओ एत्थ विण्णेओ । तप्पणिहाणाओ च्चिय तग्गुणओ होदि फलभावा ॥२॥
चिन्तामणिरयणादिहिं जहा उ भव्वा समीहियं वत्थुं । पावंति तह जिणेहिं तेसिं रागादभावे वि ॥३॥
वत्थुसहावो एसो अउव्वचिन्तामणी महाभागो । थोऊणं तित्थयरे पाविज्जइ बोहिलाभो त्ति ॥४॥
भत्तीए जिणवराणं खिज्जन्ती पुव्वसंचिया कम्मा । गुणपगरिसबहुमाणो कम्मवणदवाणलो जेण ॥५॥

एतदुक्तं भवति,–यद्यपि ते भगवन्तो वीतरागत्वादारोग्यादि न प्रयच्छन्ति तथाप्येवंविधवाक्-(प्र०...वाक्य)प्रयोगतः प्रवचनाराधनतया सन्मार्गवर्त्तिनो महासत्त्वस्य तत्संपत्तिनिबन्धनमेव तदुपजायत इति गाथार्थः ॥६॥

(ल०–सप्तमगाथाव्याख्या) चंदेसु० गाहा,

(चंदेसु निम्मलयरा आइच्चेसु अहियं पयासयरा । सागरवरगंभीरा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥७॥)

व्याख्या इह प्राकृतशैल्या आर्षत्वाच्च पञ्चम्यर्थे सप्तमी द्रष्टव्येति 'चन्द्रेभ्यो निर्मलतराः,' पाठान्तरं वा 'चंदेहिं निम्मलयर'त्ति । तत्र सकलकर्म्ममलापगमाच्चन्द्रेभ्यो निर्मलतरा इति । तथा, 'आदित्येभ्योऽधिकं प्रकाशकराः', केवलोद्योतेन विश्वप्रकाशनादिति; उक्तं च,–'चंदाइच्चगहाणं पहा पयासेइ परिमियं खेत्तं । केवलियणाणलंभो लोयालोयं पयासेइ ॥१॥' तथा, 'सागरवरगम्भीराः',– तत्र सागरवरः स्वयम्भूरमणोऽभिधीयते, तस्मादपि गम्भीराः, परीषहोपसर्गेभ्योऽ(प्र०...सर्गाद्य) क्षोभ्यत्वात् , इति भावना । सितं ध्मातमेषामिति सिद्धाः, कर्म्मविगमात्कृतकृत्या इत्यर्थः । सिद्धिं= परमपदप्राप्तिं मम दिशन्तु, अस्माकं प्रयच्छन्तु,–इति गाथार्थः ॥७॥

'सव्वलोए अरिहंत चेइयाणं'

(ल०–) एवं चतुर्विंशतिस्तवमुक्त्वा सर्व्वलोक एवार्हच्चैत्यानां कायोत्सर्गकरणायेदं पठति पठन्ति वा,–'सव्वलोए अरिहंतचेइयाणं करेमि काउस्सग्गमि'त्यादि...जाव 'वोसिरामि' । व्याख्या पूर्ववत् । नवरं 'सर्व्वलोके अर्हच्चैत्यानाम्' इत्यत्र लोक्यते = दृश्यते केवलज्ञानभास्वतेति 'लोकः' चतुर्दशरज्ज्वात्मकः परिगृह्यते । उक्तं च,–

'धर्म्मादीनां वृत्तिर्द्रव्याणां भवति यत्र तत् क्षेत्रम् । तैर्द्रव्यैः सह लोकस्तद्विपरीतं ह्यलोकाख्यम् ॥१॥'

सर्व्वः खल्वधस्तिर्यगूर्ध्वभेदभिन्नः । सर्व्वश्चासौ लोकश्च सर्व्वलोकः, तस्मिन् सर्व्वलोके त्रैलोक्य इत्यर्थः । तथाहि,–अधोलोके चमरादिभवनेषु(प्र०...भेदेषु),तिर्यग्लोके द्वीपाचलज्योतिष्कविमानादिषु, ऊर्ध्वलोके सौधर्म्मादिषु सन्त्येवार्हच्चैत्यानि । ततश्च मौलं चैत्यं समाधेः कारणमिति मूलप्रतिमायाः

प्राक्, पश्चात्सर्वेऽर्हन्तस्तद्गुणा इति सर्वलोकग्रहः। कायोत्सर्गचर्चः पूर्ववत्; तथैव च स्तुतिः, नवरं सर्वतीर्थकराणाम्, अन्यथाऽन्यः कायोत्सर्गः अन्या स्तुतिरिति न सम्यक्। एवमप्येतदभ्युपगमेऽतिप्रसङ्गः, स्यादेवमन्योद्देशेऽन्यपाठः, तथा च निरर्थका उद्देशादयः सूत्रे, इति यत्किञ्चिदेतत्।

।व्याख्यातं लोकस्योद्योतकरानित्यादिसूत्रम्।

'पुक्खरवरदीवड्ढे०' (पुष्करवरद्वीपार्द्धे०)

(ल०–) पुनश्च प्रथमपदकृताभिख्यं 'पुष्करवरद्वीपार्द्ध' पठति (प्र०...विधिवत्पठति) पठन्ति वा। तस्येदानीमभिसम्बन्धो विवरणं चोन्नीयते;–

सर्वतीर्थकराणां स्तुतिरुक्ता, इदानीं तैरुपदिष्टस्याऽऽगमस्य, येन ते भगवन्तस्तदभिहिताश्च भावाः स्फुटमुपलभ्यन्ते। तत्प्रदीपस्थानीयं सम्यक्श्रुतमर्हति कीर्त्तनम् इतीद(प्र०...अत इद)मुच्यते,– "पुक्खरवर" इत्यादि

'पुक्खरवरदीवड्ढे धायइसंडे य जंबुदीवे य। भरहेरवयविदेहे धम्माइगरे नमंसामि ॥१॥'

व्याख्या,–पुष्कराणि पद्मानि, तैर्वरः प्रधानः पुष्करवरः पुष्करवरश्चासौ द्वीपश्चेति समासः, तस्यार्द्धं मानुषोत्तराचलार्वाग्भागवर्ति, तस्मिन्।

(ल०–धायइसंडे...धम्माइगरे–) तथा धातकीनां खण्डानि यस्मिन् स धातकीखण्डो द्वीपः, तस्मिंश्च। तथा जम्ब्वा उपलक्षितस्तत्प्रधानो वा द्वीपो जम्बूद्वीपः, तस्मिंश्च। एतेष्वर्द्धतृतीयेषु द्वीपेषु महत्तरक्षेत्रप्राधान्याङ्गीकरणात् पश्चानुपूर्व्योपन्यस्तेषु यानि भरतैरावतविदेहानि। प्राकृतशैल्या त्वेकवचननिर्देशः द्वन्द्वैकवद्भावाद् वा भरतैरावतविदेह इत्यपि भवति; तत्र। 'धर्मादिकरान् नमस्यामि'–दुर्गतिप्रसृतान् जीवान्...इत्यादिश्लोकोक्तनिरुक्तो धर्मः; स च द्विभेदः श्रुतधर्मश्चारित्रधर्मश्च। श्रुतधर्मेणेहाधिकारः तस्य च भरतादिषु आदौ करणशीलाः तीर्थकरा एव।

(ल०–) आह, 'श्रुतज्ञानस्य स्तुतिः प्रस्तुता, कोऽवसरस्तीर्थकृतां? येनोच्यते धर्मादिकरान् नमस्यामी'ति। उच्यते, श्रुतज्ञानस्य तत्प्रभवत्वात् अन्यथा तदयोगात्। पितृभूतत्वेनावसर एषामिति। एतेन सर्वथा अपौरुषेयवचननिरासः।

(पं०–) 'एतेने'त्यादि। 'एतेन'=धर्मादिकरत्वज्ञापनेन, 'सर्वथा'=अर्थज्ञानशब्दरूपप्रकाशनप्रकारकात्स्न्र्येन, 'अपौरुषेयवचननिरासः'=न पुरुषकृतं वचनमित्येतन्निरास। 'कृत' इति गम्यते।

(ल०–अपौरुषेयत्वनिरसनम्–) यथोक्तम्, 'असम्भव्यपौरुषेयं', 'वान्ध्येयखरविषाणतुल्यमपुरुषकृतं वचनं विदुषाऽ(प्र०...विदुषाम)नुपन्यसनीयं विद्वत्समवाये, स्वरूपनिराकरणात् (प्र०...णत्वात्)। तथाहि,–'उक्तिर्वचनम्, उच्यत इति वे'ति पुरुषक्रियानुगतं रूपमस्य, एतत्क्रियाभावे

कथं तद् भवितुमर्हति ?

(पं०–) वचनान्तरेणापि एनं समर्थयितुमाह 'यथोक्तं' धर्मसारप्रकरणे वचनपरीक्षायाम्, 'असम्भवि' न संभवतीत्यर्थः, 'अपौरुषेयम्'=अपुरुषकृत, 'वचनमि'ति प्रक्रमाद् गम्यते। इदमेव वृत्तिकृद् व्याचष्टे 'वान्ध्येयखरविषाणतुल्यम्', असदित्यर्थ, अपुरुषकृतं वचनम्। ततः किमित्याह 'विदुषां'=सुधियाम् 'अनुपन्यसनीयं'=पक्षतयाऽव्यवहरणीय, 'विद्वत्समवाये' सभ्यपरिषदि, कुत इत्याह 'स्वरूपनिराकरणाद्'= अपौरुषेयत्वस्य साध्यस्य धर्मिस्वरूपेण वचनत्वेन प्रतिषेधात्। अस्यैव भावनामाह 'तथे'त्यादिना 'कथं तद्भवितुमर्हत'ति पर्यन्तेन; सुगमं चैतत्। प्रयोगः,—यदुपन्यस्यमानं स्ववचनेनापि बाध्यते, न तद्विदुषा विद्वत्सदसि उपन्यसनीयं, यथा 'माता मे वन्ध्या', 'पिता मे कुमारब्रह्मचारी'ति, तथा चापौरुषेयं वचनमिति।

(ल०–अदृश्यवक्त्राशङ्का–)न चैतत् केवलं क्वचिद् ध्वनदुपलभ्यते। उपलब्धावप्यदृश्यवक्त्राशङ्कासम्भवात्, तन्निवृत्त्युपायाभावाद्।

(पं०–) अभ्युच्चयमाह 'न च'=नैव, 'एतद्'=अपौरुषेयतयाभ्युपगत वेदवचन, 'केवलं'= पुरुषव्यापाररहित, 'क्वचिद्'=आकाशादौ, 'ध्वनत्'=शब्दायमानम् 'उपलभ्यते'=श्रूयत इति। उपलभ्यत एव कचित्कदाचित्किञ्चिच्चेद्, इत्याह 'उपलब्धावपि'=श्रवणेऽपि क्वचिद्ध्वनच्छब्दस्य, 'अदृश्यवक्त्राशङ्कासम्भवाद्'=अदृश्यस्य पिशाचादेर्वक्तुराशङ्कासम्भवात् 'तेन भाषितं स्यादि'त्येवं संशयभावात्। 'असारमेतदि'ति संबध्यते, कुत इत्याह 'तन्निवृत्त्युपायाभावाद्'=अदृश्यवक्त्राशङ्कानिवृत्तेरुपायाभावात्। न हि कश्चिद्धेतुरस्ति येन साऽऽशङ्का निवर्तयितु शक्यत इति।

(ल०–) अतीन्द्रियार्थदर्शिसिद्धेः, अन्यथा तदयोगात्, पुनस्तत्कल्पनावैयर्थ्याद्, असारमेतदिति।

(पं०–) एतदपि कुत इत्याह 'अतीन्द्रियार्थदर्शिसिद्धेः,' अतीन्द्रिय पिशाचादिकमर्थं द्रष्टुं शील' पुरुष एव हि तन्निवृत्त्युपाय', तत एव पिशाचादिप्रभवमिद, स्वत एव वा ध्वनदुपलभ्यते' इत्येवं निश्चयसद्भावात्। व्यतिरेकमाह 'अन्यथा'=अतीन्द्रियार्थदर्शिनमन्तरेण, 'तदयोगाद्'=अदृश्यवक्त्राशङ्कानिवृत्तेरयोगात्। यदि नामातीन्द्रियार्थदर्शी सिद्ध्यति तत. का क्षतिरित्याह 'पुनस्तत्कल्पनावैयर्थ्यात्', अतीन्द्रियार्थदर्शिनमभ्युपगम्य पुनः=भूय, तत्कल्पनावैयर्थ्याद्–अपौरुषेयकल्पनावैयर्थ्यात्। सा ह्यतीन्द्रियार्थदर्शिनमनभ्युपगच्छतामेव सफला, यथोक्तम्–'अतीन्द्रियाणामर्थाना, साक्षाद् द्रष्टा न विद्यते। वचनेन हि नित्येन यः पश्यति स पश्यति ॥ १ ॥' 'असारं'=परिफल्गु, 'एतद्' यदुतापौरुषेय वचनमिति।

(ल०–जैनमतेऽपौरुषेयवचनापत्तिः–) स्यादेतत्, -भवतोऽपि तत्त्वतोऽपौरुषेयमेव वचनं, सर्वस्य सर्वदर्शिनस्तत्पूर्वकत्वात्, 'तप्पुव्विया अरहया' इति वचनात्, तदनादित्वेऽपि तदनादित्वतस्तथात्वसिद्धेः अवचनपूर्वकत्वं चैकस्य, तदपि तन्त्रविरोधि, न्यायतोऽनादिशुद्धवादापत्तेरिति।

(पं०–) 'स्यादेतत्' परस्य वक्तव्यं, 'भवतोऽपि' पौरुषेयवचनवादिनः, न केवलं मम, 'तत्त्वतः'= ऐदम्पर्यशुद्ध्या, 'अपौरुषेयमेव वचनं', न पौरुषेयमपि। अत्र हेतुमाह 'सर्वस्य' ऋषभादेः, 'सर्वदर्शिनः'= सर्वज्ञस्य, 'तत्पूर्वकत्वात्'=वचनपूर्वकत्वात्। एतदपि कुत इत्याह 'तप्पुव्विया'=वचनपूर्विका, 'अरहया'= अर्हत्ता, 'इति वचनात्'। अथ स्याद् अनादिरर्हत्सन्तानस्ततः कथं न पौरुषेयवचनमित्याशङ्क्याह 'तदनादित्वेऽपि', तेषाम्=अर्हताम्, अनादित्वेपि, 'तदनादित्वतः'=तस्य वचनस्य अनादिभावात्, 'तथात्वसिद्धेः'= अपौरुषेयत्वसिद्धेः। अस्यैव विपर्ययबाधक पक्षान्तरमाह 'अवचनपूर्वकत्वं चैकस्य', यदि हि अपौरुषेयं वचनं नेष्यते तदाऽवचनपूर्वकः कश्चिदेक आदौ वचनप्रवर्तकोऽर्हन्नभ्युपगन्तव्य इति भावः। एवमपि तर्हि अस्तु इत्याशङ्क्य पर एव आह 'तदपि' अवचनपूर्वकत्व, 'तन्त्रविरोधि'='सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इत्यागमविरोधि, कुत इत्याह 'न्यायतः'=सदकारणवन्नित्यमिति नित्यलक्षणन्यायात् 'अनादिशुद्धवादापत्तेः'= अनादिशुद्धः परपरिकल्पितसदाशिवादिवत् कश्चिदर्हन्निति वादप्रसङ्गात् इति। 'इतिः' परवक्तव्यतासमाप्त्यर्थः।

(ल०–आपत्तिपरिहारः प्रवाहतोऽनादिता–) न,अनादित्वेऽपि पुरुषव्यापाराभावे वचनानुपपत्त्या तथात्वासिद्धेः। न चावचनपूर्वकत्वं कस्यचित्, तदादित्वेन तदनादित्वविरोधादिति। बीजाङ्कुरवदेतत् ततश्चानादित्वेऽपि प्रवाहतः सर्वज्ञाभूतभवनवद् वक्तृव्यापारपूर्वकत्वमेवाखिलवचनस्येति।

(पं०–)परपक्षमाशङ्क्योत्तरमाह 'न'=नैव, एतत् परोक्तम्। अत्र हेतुमाह 'अनादित्वेऽपि'=अविद्यमानाऽऽदिभावे, वचनस्य, 'पुरुषव्यापाराभावे'=वचनप्रवर्तकताल्वादिव्यापाराभावे, 'वचनानुपपत्त्या'=उक्तनिरुक्तवचनायोगेन,'तथात्वासिद्धेः'। पक्षान्तरमपि निरस्यन्नाह 'न च' =नैव, 'अवचनपूर्वकत्वं' परोपन्यस्तं, 'कस्यचिद्' भगवतः। कुत इत्याह 'तदादित्वेन'=वचनपूर्वकत्वेन, 'तदनादित्वविरोधात्' 'तस्य= भगवतो, अनादित्वस्य=अवचनपूर्वकत्वाक्षिप्तस्य, विरोधात्=निराकरणादिति। परमार्थमाह 'बीजाङ्कुरवदेतत्'=यथा बीजादङ्कुरोऽङ्कुराद् बीजं तथा वचनादर्हन्नर्हतश्च वचनं प्रवर्त्तत इति। प्रकृतसिद्धिमाह 'ततश्च'= बीजाङ्कुरदृष्टान्ताच्च, 'अनादित्वेऽपि' वचनस्य, 'प्रवाहतः=परपरामपेक्ष्य, 'सर्वज्ञाभूतभवनवद्', सर्वज्ञस्य ऋषभादिव्यक्तिरूपस्य प्रागभूतस्य भवनमिव, 'वक्तृव्यापारपूर्वकत्वमेवाखिलवचनस्य'लौकिकादिभेदभिन्नस्येति।

(ल०–)'नन्वेवं सर्वज्ञ एवास्य वक्ता सदा, नान्यः, (अन्यथा) तदसाधुत्वप्रसङ्गाद् इति सोऽवचनपूर्वक एव कश्चिन्नीतितः ?' ननु'बीजाङ्कुरवत्'-इत्यनेन प्रत्युक्तः; परिभावनीयं तु यत्नतः।

(प०–) 'ननु' इति पराक्षमायाम्, 'एवमि'ति पौरुषेयत्वे, 'सर्वज्ञ एव','अस्य'=वचनस्य,'वक्ता'। 'सदा'=सर्वकालं, 'न', 'अन्यः'=तद्व्यतिरिक्तः। कुत इत्याह (अन्यथा) तदसाधुत्वप्रसङ्गात्', तस्य= वचनस्य, असाधुत्वप्रसङ्गाद्–अप्रामाण्यप्राप्तेः, वक्तृप्रामाण्याद्धि वचनप्रामाण्यम्, 'इति'=अस्माद्धेतोः, 'सः' सर्वज्ञः, 'अवचनपूर्वक एव कश्चित्' चिरतरकालातीतो, 'नीतितः'=अन्यथाऽपौरुषेयं वचनं स्यादिति नीतिमाश्रित्य, 'अभ्युपगन्तव्य' इति गम्यते। अत्रोत्तर, 'ननु'=वितर्कय, 'बीजाङ्कुरवदेतदित्यनेन' ग्रन्थेन, 'प्रत्युक्तं'=निराकृतमेतत् 'परिभावनीयं तु यत्नतः'; तत्र सम्यक्परिभाविते पुनरित्थमुपन्यासायोगात्।

(ल०—आगमवचनमर्थज्ञानशब्दत्रिरूपम्:—) तथार्थ-ज्ञान-शब्दरूपत्वादधिकृतवचनस्य शब्द-वचनापेक्षया नावचनपूर्वकत्वेऽपि कस्यचिद् दोषः, मरुदेव्यादीनां तथाश्रवणात्, वचनार्थप्रतिपत्तित एव तेषामपि तथात्वसिद्धेः तत्त्वतस्तत्पूर्वकत्वमिति ।

(पं०—) न च जैनानां क्वचिदेकान्त इत्यपि प्रतिपादयन्नाह 'तथे'ति पक्षान्तरसमुच्चये, 'अर्थज्ञान-शब्दरूपत्वाद्', अर्थः=सामायिकपरिणामादिः, ज्ञानं= तद्गतैव प्रतीतिः, शब्दो=वाचकध्वनिः, तद्रूप-त्वात्=तत्स्वभावत्वाद्, 'अधिकृतवचनस्य'=प्रकृतागमस्य । ततः 'शब्दवचनापेक्षया'=शब्दरूपं वचनम-पेक्ष्य, 'न'=नैव, 'अवचनपूर्वकत्वेऽपि', 'कस्यचित्' 'सर्व्वदर्शिनो, 'दोषः' अनादिशुद्धवादापत्तिलक्षणः । समर्थकमाह 'मरुदेव्यादीनां'=प्रथमजिनजननीप्रभृतीनां स्वयमेव पक्वभव्यत्वानां, 'तथाश्रवणात्'=शब्दरूप-वचनानपेक्षयैव सर्वदर्शित्वश्रवणात् । अथ 'तप्पुव्विया अरहये'तिवचनं समर्थयन्नाह 'वचनार्थप्रतिपत्तित एव', वचनसाध्यसामायिकाद्यर्थस्य ज्ञानानुष्ठानलक्षणस्य, प्रतिपत्तित एव=अङ्गीकरणादेव, नान्यथा, 'तेषामपि' मरुदेव्यादीनाम्, 'अपि'शब्दादृषभादीनां च, तथात्वसिद्धेः'=सर्वदर्शित्वसिद्धेः, 'तत्त्वतो'=निश्चयवृत्त्या, न तु व्यवहारतोऽपि, 'तत्पूर्वकत्वं'=वचनपूर्वकत्वमिति ।

(ल०—वचनं विना कथमर्थप्राप्तिः ?—) भवति च विशिष्टक्षयोपशमादितो मार्ग्गानुसारि-बुद्धेर्वचनमन्तरेणापि तदर्थप्रतिपत्तिः, क्वचित् तथादर्शनात्, संवादसिद्धेः । एवं च व्यक्त्यपेक्षया नाऽनादिशुद्धवादापत्तिः सर्वस्य तथा तत्पूर्वकत्वात्; प्रवाहतस्त्विष्यत एव; इति न ममापि तत्त्वतो-ऽपौरुषेयमेव वचनमिति प्रपञ्चितमेतदन्यत्रेति नेह प्रयासः ।

(पं०—) एतदेव भावयति 'भवति च विशिष्टक्षयोपशमादितः'=विशिष्टाद्दर्शनमोहनीयादिगोचरात् क्षयक्षयोपशमोपशमात्, 'मार्ग्गानुसारिबुद्धेः=सम्यग्दर्शनादिमोक्षमार्ग्गानुयायिप्रज्ञस्य, 'वचनम्'=उक्तलक्षणम्, 'अन्तरेणापि'=विनापि, 'तदर्थप्रतिपत्तिः'=वचनार्थप्रतिपत्तिः । कुत इत्याह 'क्वचित्' प्रज्ञापनीये, 'तथा-दर्शनात्'=वचनार्थप्रतिपत्तिदर्शनात् । कुत इदमित्याह 'संवादसिद्धेः'=यदिदं त्वयोक्तं तन्मया स्वत एव ज्ञातमनुष्ठितं वेत्येवं प्रकृतार्थाव्यभिचारसिद्धेः । 'एवं च' वचनपौरुषेयत्वे, 'व्यक्त्यपेक्षया'=एकैकं सर्वदर्शि-नमपेक्ष्य, 'नाऽनादिशुद्धवादापत्तिः'=न कश्चिदेकोऽनादिशुद्धः सर्वदर्शी वक्ता आपन्नः । कुत इत्याह 'सर्वस्य' सर्वदर्शिनः, 'तथा'=पूर्वोक्तप्रकारेण, 'तत्पूर्वकत्वात्'=वचनपूर्वकत्वात् । 'प्रवाहतस्तु'=परपराम-पेक्ष्य (पुनः), 'इष्यत एवा'नादिशुद्धः, प्रवाहस्यानादित्वाद्, 'इति'=एवं, 'न ममापि तत्त्वतोऽपौरुषेयं वचनं' यत् त्वया प्राक् प्रसञ्जितम्, 'इति' । 'प्रपञ्चितमेतद्', 'अन्यत्र'=सर्वज्ञसिद्ध्यादौ, ('इति'—अतः) 'नेह' 'प्रयासः'=प्रयत्नः ।

(ल०—द्वितीयगाथाव्याख्या—) तदेवं श्रुतधर्मादिकराणां स्तुतिमभिधायाधुना श्रुतधर्मा-स्याभिधित्सुराह,—'तमतिमिर' इत्यादि

('तमतिमिरपडलविद्धंसणस्स,सुरगणनरिंदमहियस्स । सीमाधरस्स वंदे,पप्फोडियमोहजालस्स॥२॥')

अस्य व्याख्या,—तमः=अज्ञानं, तदेव तिमिरं, तमस्तिमिरम्। अथवा तमः=बद्धस्पृष्ट-निधत्तं ज्ञानावरणीयं, निकाचितं तिमिरम्। तस्य पटलं=वृन्दं, तमस्तिमिरपटलम्, तद् विध्वं-सयति=विनाशयतीति तमस्तिमिरपटलविध्वंसनः, तस्य। तथा चाज्ञाननिरासेनैवास्य प्रवृत्तिः। तथा, सुरगणनरेन्द्रमहितस्य; तथा ह्यागममहिमां(महिमानं)कुर्वन्त्येव सुरादयः। तथा, सीमां=मर्यादां धारयतीति सीमाधरः, तस्येति कर्म्माणि षष्ठी, तं वन्दे; तस्य वा यन्माहात्म्यं तद् वन्दे, अथवा तस्य वन्दे इति तद्वन्दनां करोमि; तथा ह्यागमवन्त एव मर्यादां धारयन्ति। किं-भूतस्य? प्रकर्षेण स्फोटितं, मोहजालं=मिथ्यात्वादि, येन स तथोच्यते, तस्य; तथा चास्मिन् सति विवेकिनो मोहजालं विलयमुपयात्येव।

(ल० तृतीयगाथाव्याख्या—) इत्थं श्रुतमभिवन्द्याधुना तस्यैव गुणोपदर्शनद्वारेणाप्रमाद-गोचरतां प्रतिपादयन्नाह,—'जाईजरामरण' इत्यादि

'जाईजरामरणसोगपणासणस्स, कल्लाणपुक्खलविसालसुहावहस्स।
को देवदाणवनरिंदगणच्चियस्स, धम्मस्स सारमुवलब्भ करे पमायं ॥३॥

अस्य व्याख्या,—जातिः=उत्पत्तिः, जरा=वयोहानिलक्षणा, मरणं=प्राणनाशः, शोकः= मानसो दुःखविशेषः, जातिश्च जरा च मरणं च शोकश्चेति द्वन्द्वः। जातिजरामरणशोकान् प्रणाश-यति=अपनयति जातिजरामरणशोकप्रणाशनः, तस्य। तथा च श्रुतधर्म्मोक्तानुष्ठानाज्जात्यादयः प्रण-श्यन्त्येव; अनेन चास्यानर्थप्रतिघातित्वमाह। कल्यम्=आरोग्यं, कल्यमणतीति कल्याणं, कल्यं शब्दयतीत्यर्थः। पुष्कलं=संपूर्णम्। न च तदल्पं, किन्तु विशालं=विस्तीर्णं, सुखं प्रतीतं, कल्याणं पुष्कलं विशालं सुखम्-आवहति=प्रापयति, कल्याणपुष्कलविशालसुखावहः, तस्य। तथा च श्रुतधर्मोक्तानुष्ठानादुक्तलक्षणमपवर्गसुखमवाप्यत एव। अनेन चास्य विशिष्टार्थप्रसाधकत्वमाह। कः प्राणी, देवदानवनरेन्द्रगणार्च्चितस्य श्रुतधर्मस्य, सारं=सामर्थ्यम्, उपलभ्य=दृष्ट्वा, विज्ञाय, कुर्यात् प्रमादं सेवेत? सचेतसश्चारित्रधर्मे प्रमादः कर्त्तुं न युक्त इति हृदयम्।

(ल०—) आह, "सुरगणनरेन्द्रमहितस्ये'त्युक्तं, पुनर्देवदानवनरेन्द्रगणार्चितस्येति किमर्थम्?" उच्यते,—प्रस्तुतभावान्वयफलतन्निगमनत्वाददोषः, तस्यैवंगुणस्य धर्मस्य सारं सामर्थ्यमुपलभ्य कः सकर्णः प्रमादी भवेच्चारित्रधर्म्मे इति।

(पं०—) 'प्रस्तुतभावान्वयफलतन्निगमनत्वादि' ति, प्रस्तुतभावस्य सुरगणनरेन्द्रमहितः श्रुत-धर्म्मो भगवानित्येवंलक्षणस्य, अन्वयः=अनुवृत्तिः, स एव फलं=साध्यं यस्य तत्तथा, तस्य=प्रावचनस्य, निगमनं=समर्थनं पश्चात् कर्म्मधारयसमासे भावप्रत्यये च प्रस्तुतभावान्वयफलतन्निगमनत्वं देवदानवनरेन्द्रगणार्च्चि-तस्येति यत् तस्मादिति।

(ल० चतुर्थगाथाव्याख्या—) यतश्चैवमत 'आह—'सिद्धे भो! पय(ओ)' इत्यादि.

('सिद्धे भो ! पयओ नमो जिणमए नन्दी सया संजमे, देवंनागसुवण्णकिन्नरगणस्सब्भूअभावच्चिए । लोगो जत्थ पइट्ठिओ जगमिणं तेलो(प्र०-लु)क्कमच्चासुरं, धम्मोवड्ढउ सासओ विजयओ धम्मुत्तरं वड्ढउ॥४)

अस्य व्याख्या,–सिद्धे=प्रतिष्ठिते,प्रख्याते । तत्र सिद्धः फलाव्यभिचारेण, प्रतिष्ठितः सकलनयव्याप्तेः; प्रख्यातस्त्रिकोटीपरिशुद्धत्वेन । भो इत्येतदतिशयिनामामन्त्रणं 'पश्यन्तु भवन्तः', प्रयतोऽहं, यथाशक्त्येतावन्तं कालं, प्रकर्षेण यतः । इत्थं परसाक्षिकं प्रयतो भूत्वा पुनर्नमस्करोति । नमो जिनमते, सुपां सुपो भवन्तीति चतुर्थ्यर्थे सप्तमी, नमो जिनमताय । तथा चास्मिन् सति जिनमते नन्दिः समृद्धिः, सदा=सर्वकालं, क्व ? संयमे–चारित्रे । तथा चोक्तं 'पढमं नाणं तओ दये'त्यादि । किंभूते संयमे ? देवनागसुवर्ण(प्र०...सुपर्ण)किन्नरगणैः सद्भूतभावेनार्चिते । तथा च संयमवन्तोऽर्च्यन्त एव देवादिभिः । किंभूते जिनमते ? लोक्यते लोकः–ज्ञानमेव, स यत्र प्रतिष्ठितः, तथा जगदिदं ज्ञेयतया । केचिन्मनुष्यलोकमेव जगन्मन्यन्त । इत्यत आह त्रैलोक्यं मनुष्यासुरम् आधाराधेयरूपमित्यर्थः । अयमित्थंभूतः श्रुतधर्म्मो वर्धतां=वृद्धिमुपयातु,शाश्वतम् इति क्रियाविशेषणमेतत् शाश्वतं वर्द्धतामित्यप्रच्युत्येति भावना विजयतो (प्र०.. विजयताम्) अनर्थप्रवृत्तपरप्रवादिविजयेनेति हृदयम् । तथा धर्म्मोत्तरं–चारित्रधर्म्मोत्तरं वर्द्धताम् ।

(ल०–श्रुतवृद्ध्याशंसा निराशंसभावहेतुः–) पुनर्वृद्ध्यभिधानं 'मोक्षार्थिना प्रत्यहं ज्ञानवृद्धिः कार्ये'ति प्रदर्शनार्थं; तथा च तीर्थकरनामकर्महेतून् प्रतिपादयतोक्तम् 'अपुव्वनाणगहणे' इति । प्रणिधानमेतत् ,अनाशंसाभावबीजं,मोक्षप्रतिबन्धेन । अप्रतिबन्ध एष प्रतिबन्धः, असङ्गफलसंवेदनात् ।

(पं०–) 'प्रणिधाने'त्यादि, प्रणिधानम् = आशंसा, एतच्छ्रुतधर्म्मवृद्ध्यभिलषणं, कीदृगित्याह 'अनाशंसाभावबीजं', अनाशंसा=सर्व्वेच्छोपरमः, सैव भावः=पर्यायः, तस्य बीजं=कारणं, कथमित्याह 'मोक्षप्रतिबन्धेन' मोक्षप्रतिबद्धं हीदं प्रार्थनं, स चानिच्छारूपः । नन्वप्रतिबन्धसाध्यो मोक्षः, कथमित्थमपि प्रतत्प्रतिबन्धः श्रेयान् ? इत्याह 'अप्रतिबन्धः'=अप्रतिबन्धसदृश., 'एषः'=मोक्षविषयप्रतिबन्धः प्रार्थनारूपः । कुत इत्याह 'असङ्गफलसंवेदनात्', असङ्गस्य=रागद्वेषमोहाद्यविषयीकृतस्य, फलस्य=आशंसनीयस्य, संवेदनात=अनुभवात् । अनीदृशफलालम्बनं हि प्रणिधानं प्रतिबन्धः, परमपुरुषार्थलाभोपघातित्वात् ।

(ल०–श्रुतवृद्धितोऽसङ्गेन मोक्षः–) यथोदितश्रुतधर्म्मवृद्धेर्मोक्षः, सिद्धत्वेन । नेह फले व्यभिचारः; असङ्गेन चैतत्फलं संवेद्यते । एवं च सद्भावारोपणात् तद्वृद्धिः ।

(प०–) ननु कथमयं नियमो यदुतेदं प्रणिधानमनाशंसाभावबीजम् ? इत्याह 'यथोदितश्रुतधर्म्मवृद्धेः'=सर्वज्ञोपज्ञश्रुतधर्म्मप्रकर्षात् 'मोक्षः' अनाशंसारूपो यतो भवतीति गम्यते । अत्रापि कथमेकान्तः ? इत्याह 'सिद्धत्वेन'=श्रुतधर्म्मवृद्धेर्मोक्षं प्रत्यवन्ध्यहेतुभावेन । इदमेव भावयति 'न'=नैव, 'इह'=मोक्षलक्षणे, 'फले' 'व्यभिचारो'=विसंवादः फलान्तरभावतो निष्फलतया वा श्रुतधर्म्मवृद्धेरिति । अस्यैवासङ्गत्वसिद्ध्यर्थमाह 'असङ्गेन च'=रागद्वेषमोहलक्षणसङ्गाभावेन च, 'एतत्'=मोक्षफलं, 'संवेद्यते'=सर्व्वैरेव मुमुक्षुभिः

प्रतीयत इति । इत्थं श्रुतधर्म्मवृद्धेः फलसिद्धिमभिधाय, अस्या एव हेतुसिद्धिमाह 'एवम्'=उक्तप्रकारेण, 'च:' पुनरर्थे भिन्नक्रमश्च, 'सद्भावारोपणात्'=श्रुतवृद्धिप्रार्थनारूपशुद्धपरिणामस्याङ्गीकरणात्, 'तद्वृद्धिः' च= श्रुतधर्म्मवृद्धिः पुन , भवतीति गम्यते ।

(ल०—बीजारोपणसमा प्रार्थना) शुभमेतदध्यवसानमत्यर्थं, शालिबीजारोपणवच्छालिहेतुः । दृष्टा ह्येवं पौनःपुन्येन तद्वृद्धिः एवमिहाप्यत इष्टवृद्धि(प्र०....सिद्धि)रिति । एवं विवेकग्रहणमत्र जलम् ।

(पं०—) एतद्भावनायैवाह 'शुभं'—प्रशस्तम्, 'एतत्' पुनः पुनः श्रुतधर्म्मवृद्ध्याशंसालक्षणम्, 'अध्यवसानं'=परिणाम', 'अत्यर्थम्'=अतीव, कीदृगित्याह— 'शालिबीजारोपणवत्'=शालिबीजस्य पुनः पुन' निक्षेपणमिव, 'शालिहेतुः' शालिफलनिमित्तम् । एतदेव भावयति—'दृष्टा'=उपलब्धा, 'हि'=यस्माद्, 'एवं'=श्रुतधर्म्मवृद्धिप्रार्थनान्यायेन, 'पौनःपुन्येन' शालिबीजारोपणस्य वृद्धे, तद्वृद्धिः' शालिवृद्धिः । 'एवं'—शालिवृद्धिप्रकारेण, 'इहापि' श्रुतस्तवे, 'अतः'=आशंसापौन.पुन्याद्, 'इष्टवृद्धिः'=श्रुतवृद्धिरिति अथ शालिबीजारोपणदृष्टान्ताक्षिप्तं सहकारिकारणं जलमपि प्रतिपादयन्नाह—'अनन्तरोक्तप्रकारेण 'विवेकग्रहणं,' विवेकेन=सम्यगर्थविचारेण(प्र०...र्थावधारणविचारेण), ग्रहणं—स्वीकार' श्रुतस्य, विवेकस्य वा ग्रहणं, तत्किमित्याह 'अत्र'=श्रुतशालिवृद्धौ, 'जलम्'=अम्भः ।

(ल०—विवेकमहत्त्वम्—) अतिगम्भीरोदार एष आशयः । अत एव संवेगामृतास्वादनम् । नाविज्ञातगुणे चिन्तामणौ यत्नः ।

(पं०—) अथ विवेकमेव स्तुवन्नाह—'अतिगम्भीरोदारः', अतिगम्भीरः=प्रभूतश्रुतावरणक्षयोपशमलभ्यत्वादत्यनुत्तानः, उदारश्च सकलसुखसाधकत्वाद्, 'एषः'=विवेकरूपः,'आशयः'=परिणामः । 'अत एव'= विवेकादेव, न तु सूत्रमात्रादपि,'संवेगामृतास्वादनं', संवेगो=धर्म्माद्यनुरागो, यदुक्तम्—"तथ्ये धर्मे ध्वस्तहिंसाप्रबन्धे, देवे रागद्वेषमोहादिमुक्ते । साधौ सर्व्वग्रन्थसन्दर्भहीने, संवेगोऽसौ निश्चलो योऽनुरागः ॥" स एव अमृतं=सुधा, तस्य आस्वादनम्=अनुभवः । ननु क्रियैव फलदा, न तु ज्ञानं, यथोक्तम्—"क्रियैव फलदा पुंसां, न ज्ञानं फलदं मतम् । यतः स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो न ज्ञानात् सुखितो भवेत् ॥' इति किं विवेकग्रहणेन ? इत्याशङ्क्य व्यतिरेकतोऽर्थान्तरोपन्यासेनाह—'न'=नैव 'अविज्ञातगुणे'—अनीर्णितज्वराद्युपशमस्वभावे, 'चिन्तामणौ'=चिन्तारत्ने, 'यत्नः' तदुचित पूजाद्यनुष्ठानलक्षणः । यथा हि चिन्तामणौ ज्ञातगुण एव यत्नस्तथा श्रुतेऽपीति ज्ञानपूर्विकैव फलवती क्रियेति ।

(ल०—) न चान्यथाऽतोऽपि समीहितसिद्धिः । प्रकटमिदं प्रेक्षापूर्वकारिणाम्, एकान्ताविषयो गोयोनिवर्गस्य ।

(पं०—) ननु चिन्तामणिश्चिन्तामणित्वादेव समीहितफल स्यात्, किं तत्रोक्तयत्नेन ? इत्याह—'न च'=नच, 'अन्यथा'=अज्ञातगुणत्वेन यत्नाभावे, 'अतोऽपि'=चिन्तामणेरपि, आस्तां श्रुतज्ञानात् 'समीहि-

वसिद्धिः'=प्रार्थितपरमैश्वर्यादिसिद्धिः । इदमेव भावयन्नाह-'प्रकटमिदं'=प्रत्यक्षमेतत्, 'प्रेक्षापूर्वकारिणाम्'=बुद्धिमता प्रेक्षाचक्षुषो विषयत्वाद् यदुत, ज्ञानपूर्वं सर्वो यत्न समीहितसिद्धिफलः । व्यतिरेकमाह 'एकान्ताविषयः'=सदाप्यसंवेद्यत्वात्, 'गोयोनिवर्गस्य'=बलीवर्दसमपृथग्जनस्य ।

(ल०—इतरयोगशास्त्रप्रमाणानि:—) परमगर्भ एष योगशास्त्राणाम् । अभिहितमिदं तैस्तैश्चारुशब्दैः, 'मोक्षाध्वदुर्गग्रहणमि'ति कैश्चित्; 'तमोग्रन्थिभेदानन्द' इति चान्यैः, गुहान्धकारालोककल्पम'परैः; 'भवोदधिद्वीपस्थानं' चान्यैरिति ।

(पं०—) पुन कीदृगित्याह 'परमगर्भः=परमरहस्यम्, 'एषः' विवेकः, 'योगशास्त्राणां' षष्टितन्त्रादीनाम् । कुत ? यत 'अभिहितम्', 'इदं' विवेकवस्तुः 'तैस्तैः'=वक्ष्यमाणै', 'चारुशब्दैः'=सत्योदारार्थध्वनिभि, 'मोक्षाध्वे'त्यादि । प्रतीतार्थं वचनचतुष्कमपि, नवरं'मोक्षाध्वदुर्गग्रहण'मिति—यथा हि कस्यचित् क्वचिन्मार्गे तस्कराद्युपद्रवे दुर्गग्रहणमेव परित्राणं, तथा मोक्षाध्वनि रागादिस्तेनोपद्रवे विवेकग्रहणमिति ।

(ल०—महामिथ्यादृष्टेः श्रुतार्थाबोधः—) न चैतद् यथावदवबुध्यते महामिथ्यादृष्टिः, तद्भावाच्छादनात्, अहृदयवत्काव्यभावम् । तत्प्रवृत्त्याद्येव ह्यत्र सल्लिङ्गम्; तद्भाववृद्धिश्च काव्यभावज्ञवत् । अत एव हि महामिथ्यादृष्टेः प्राप्तिरप्यप्राप्तिः, तत्फलाभावात्, अभव्यचिन्तामणिप्राप्तिवत् ।

(पं०—) आह 'श्रुतग्रहणनियतं विवेकग्रहण,तत्किमस्मादस्य विशेषेण पृथग् ज्ञापनम् ?'-इत्याशङ्क्याह 'न (न च)'=नैव,'एतत्'=श्रुतं,कथचित्पाठेऽपि 'यथावद्'=यत्प्रकारार्थवद्,यादृशार्थमित्यर्थः,'अवबुध्यते'=जानीते, 'महामिथ्यादृष्टिः'=पुद्गलपरावर्ताधिकसंसारः, कथमित्याह 'तद्भावाच्छादनात्'=बोधभावावरणात् । दृष्टान्तमाह 'अहृदयवद्'=अव्युत्पन्न इव, 'काव्यभावमिति' = शृङ्गारादिरससूचकवचनरहस्यमिति । अतः कथं श्रुतमात्रनियतं विवेकग्रहणमिति ? कुत इदमित्थमित्याह-'तत्प्रवृत्त्याद्येव', 'हि'=यस्मात् तत्रावबुद्धे श्रुतार्थे प्रवृत्ति-विघ्नजय-सिद्धि-विनियोगा एव, न पुन. श्रुतार्थज्ञानमात्रम्, 'अत्र'=श्रुतार्थावबोधे,'सद्'=अव्यभिचारि, 'लिङ्गम्'=गमको हेतु' । किमेतावदेव ? न इत्याह 'तद्भाववृद्धिश्च'—बोधभाववृद्धिश्च, 'काव्यभावज्ञवत्'=काव्यभावज्ञस्येव काव्ये इति दृष्टान्त. । 'अत एव'=यथावदनवबोधादेव, 'हिः'=स्फुट, महामिथ्यादृष्टेः' उक्तलक्षणस्य, 'प्राप्तिः' अध्ययनादिरूपस्य श्रुतस्य, 'अप्राप्तिः' । कुत इत्याह 'तत्फलाभावाद्'=यथावदवबोधरूपफलाभावात् । किंवदित्याह 'अभव्यचिन्तामणिप्राप्तिवत्'—यथा हि अतिनिर्भाग्यतयाऽयोग्यस्य चिन्तामणिप्राप्तावपि तद्ज्ञानवत्त्वा(प्र०... ज्ञानयत्ना)भावान्न तत्फलं, तथा अस्य श्रुतप्राप्तावपीति ।

(ल०—मिथ्यादृष्टेर्भावश्रुतयोग्यद्रव्यश्रुताप्तिः—) मिथ्यादृष्टेस्तु भवेद् द्रव्यप्राप्तिः; साऽऽदरादिलिङ्गा अनाभोगवती; न त्वस्यास्थान एवाभिनिवेशः, भव्यत्वयोगात्; तच्चैवंलक्षणम् ।

(पं०—) भवतु नामैवं महामिथ्यादृष्टे., मिथ्यादृष्टेस्तु का वार्ता ? इत्याह—'मिथ्यादृष्टेस्तु' धर्मबीजाधानाद्यर्हस्य, 'भवेत्'=स्यात्, 'द्रव्यप्राप्तिः'=भावश्रुतयोग्यद्रव्यश्रुतप्राप्तिः । कीदृग् इत्याह (प्र०....

स्यात् द्रव्यश्रुतप्राप्तिः ?) 'सा'–'आदरादिलिङ्गा' = आदरः करणे प्रीतिरित्यादिलिङ्गा, 'अनाभोगवती' = सम्यक् श्रुतार्थोपयोगरहिता। ननु मिथ्यादृष्टिमहामिथ्यादृष्ट्योरनाभोगाद्यविशेषात् कः प्रतिविशेषः ? इत्याह- 'न तु'=न पुन. 'अस्य'=मिथ्यादृष्टेः, 'अस्थान एव' = मोक्षपदप्रतिपन्थिन्येव भावे, 'अभिनिवेशः' = आग्रहः, स्थानाभिनिवेशस्यापि तस्य भावात्। कुत एवमित्याह-'भव्यत्वयोगात्' = भावश्रुतयोग्यत्वस्य भावात्। अस्थानाभिनिवेश एव हि तदभावात् (प्र० . .तद्भावात्) अस्यैव हेतो. स्वरूपमाह 'तच्च' = तत्पुनर्भव्यत्वम्, 'एवंलक्षणम्' = अस्थाने स्थाने चाभिनिवेशस्वभावम्, इत्यनयोर्विशेषो ज्ञेयः।

(ल०–अनन्तशो द्रव्यश्रुतमूलकग्रैवेयकप्राप्तिः–)प्राप्तं चैतदभव्यैरप्यसकृत्, वचनप्रामाण्यात्। न च ततः किञ्चित्, प्रस्तुतफललेशस्याप्यसिद्धेः। परिभावनीयमेतदागमज्ञैर्वचनानुसारेणेति। एवमन्येषामपि सूत्राणामर्थो वेदितव्य इति दिग्मात्रप्रदर्शनमेतत्।

(पं०–) महामिथ्यादृष्टेः प्राप्तिरप्यस्यासम्भविनी, कुतस्तस्य फलचिन्ता ? इत्याह-'प्राप्तं' = लब्धं, 'च' कारः उक्त(प्र० ..अनुक्त)समुच्चये, 'एतत्' = श्रुतम्, 'अभव्यैरपि' = एकान्तमहामिथ्यादृष्टिभिः किं पुनरन्यमिथ्यादृष्टिभिः, 'असकृद्' = अनेकशः, कुत इत्याह 'वचनप्रामाण्यात्' = सर्वजीवानामनन्तशो ग्रैवेयकोपपातप्रज्ञापनाप्रामाण्यात्। एवं तर्हि तत्फलमपि तेषु भविष्यतीत्याह, 'न च' = नैव, 'ततः' = श्रुतप्राप्तेः, 'किञ्चित्' फलमिति गम्यते। कुत इत्याह 'प्रस्तुतफललेशस्यापि' = प्रकृतयथावद्बोधरूपफलांशस्यापि, आस्तां सर्वस्य, 'असिद्धेः' = अप्राप्ते.। तत्सिद्धावल्पकालेनैव सर्वमुक्तिप्राप्तिप्रसङ्गात्।

(ल०–'सुयस्स भगवओ...'व्याख्या–)एवं प्रणिधानं कृत्वैतत्पूर्विका क्रिया फलायेति श्रुतस्य कायोत्सर्गसंपादनार्थं पठति पठन्ति वा 'सुयस्स भगवओ करेमि काउस्सग्गमि'त्यादि यावद् वोसिरामि। व्याख्या पूर्ववत्; नवरं 'श्रुतस्ये'ति=प्रवचनस्य सामायिकादिचतुर्दशपूर्वपर्यन्तस्य, 'भगवतः'=समग्रैश्वर्यादियुक्तस्य।

(श्रुतं सिद्धं त्रिधा–) सिद्धत्वेन समग्रैश्वर्यादियोगः। न ह्यतो विधिप्रवृत्तः फलेन वञ्च्यते; व्याप्ताश्च सर्वे (प्र०..र्वे) प्रवादा। एतेन; विधिप्रतिषेधा-ऽनुष्ठान-पदार्थाविरोधेन च वर्त्तते।

(पं०–) सिद्धत्वेने'ति, सिद्धत्वेन फलाव्यभिचार-प्रतिष्ठितत्व-त्रिकोटिपरिशुद्धिभेदेन। इदमेव 'न ह्यतो विधिप्रवृत्त' इत्यादिना वाक्यत्रयेण यथाक्रमं भावयति, सुगमं चैतत्; नवरं 'विधिप्रतिषेधानुष्ठानपदार्थाविरोधेन च' इति, विधिप्रतिषेधयोः, कषरूपयोः, अनुष्ठानस्य छेदरूपस्य, पदार्थस्य च तापविषयस्य, अविरोधेन=पूर्वापराबाधया, वर्त्तते, 'च'कार उक्तसमुच्चयार्थः।

(ल०–त्रिकोटिवाक्यानि) (१) 'स्वर्गकेवलार्थिना तपोध्यानादि कर्त्तव्यम्, सर्वे जीवा न हन्तव्या'इतिवचनात्; (२) 'समितिगुप्तिशुद्धा क्रिया असपत्नो योग'इतिवचनात्; (३) 'उत्पादविगमध्रौव्ययुक्तं सत्, एकद्रव्यमनन्तपर्यायमर्थः' इतिवचनादिति।

कायोत्सर्गप्रपञ्चः प्राग्वत्, तथैव च स्तुतिः, यदि परं श्रुतस्य, समानजातीयमूंहकत्वात् । अनुभवसिद्धमेतत् तज्ज्ञानां;चलति समाधिरन्यथेति प्रकटम् । ऐतिह्यं चैतदेवमतो न बाधनीयम् । इति व्याख्यातं 'पुष्करवरद्वीपार्द्धे' इत्यादिसूत्रम् ॥

(पं०-) अमुमेवाविरोधं त्रिकोटिपरिशुद्धिलक्षणं द्वाभ्यां वचनाभ्यां दर्शयति 'स्वर्गे'त्यादिना; सुगमं चैतत्, किन्तु स्वर्गार्थिना तपोदेवतापूजनादि, केवलार्थिना तु ध्यानाध्ययनादि कर्त्तव्यम् । 'असपत्नो योगः' इति, 'असपत्नः'=परस्पराविरोधी, स्वस्वकालानुष्ठानाद्, 'योगः'-स्वाध्यायादिसमाचारः । 'ऐतिह्यं चैतदि'ति=संप्रदायश्चायं यदुत तृतीया स्तुतिः श्रुतस्येति ।

॥ इति श्रीमुनिचन्द्रसूरिविरचितायां ललितविस्तरापञ्जिकायां श्रुतस्तवः समाप्तः ॥

सिद्धाणं बुद्धाणं० (सिद्धेभ्यो बुद्धेभ्य०)

पुनरनुष्ठानपरम्पराफलभूतेभ्यस्तथाभावेन तत्क्रियाप्रयोजकेभ्यश्च सिद्धेभ्यो नमस्करणायेदं पठति पठन्ति वा,-'सिद्धाणं' इत्यादि सूत्रम्-

['सिद्धाणं बुद्धाणं, पारगयाणं परंपरगयाणं । लोयग्गमुवगयाणं नमो सया सव्वसिद्धाणं ॥१॥]

अस्य व्याख्या, सितं ध्मातमेषामिति सिद्धाः, निर्दग्धानेकभवकर्मेन्धना इत्यर्थः। तेभ्यो नम इति योगः । ते च सामान्यतः कर्मादिसिद्धा अपि भवन्ति, यथोक्तम्-'कम्मे सिप्पे य विज्जा य, मंते, जोगे य आगमे । अत्थ-जत्ता-अभिप्पाए, तवे कम्मक्खए इय ॥ १ ॥' इत्यादि अतः कर्म्मादिसिद्धव्यपोहायाह 'बुद्धेभ्यः' । अज्ञाननिद्राप्रसुप्ते जगत्यपरोपदेशेन जीवादिरूपं तत्त्वं बुद्धवन्तो बुद्धाः सर्वज्ञसर्वदर्शिस्वभावबोधरूपा इत्यर्थः, एतेभ्यः ।

(ल०-पारगयाणं परंपरगयाणं-) एते च संसारनिर्वाणोभयपरित्यागेन स्थितवन्तः कैश्चिदिष्यन्ते, 'न संसारे न निर्वाणे स्थितो भुवनभूतये । अचिन्त्यः सर्वलोकानां चिन्तारत्नाधिको महान् ॥१॥' इति वचनात् । एतन्निरासायाह 'पारगतेभ्यः', पारं=पर्यन्तं संसारस्य प्रयोजनव्रातस्य वा गताः पारगताः, तथाभव्यत्वाक्षिप्तसकलप्रयोजनसमाप्त्या निरवशेषकर्तव्यशक्तिविप्रमुक्ता इति यदुक्तं भवति, एतेभ्यः ।

एते च यदृच्छावादिभिः कैश्चिदक्रमसिद्धत्वेनापि गीयन्ते, यथोक्तम् 'नैकादिसङ्ख्याक्रमतो वित्तप्राप्तिर्नियोगतः । दरिद्रराज्याप्तिसमा, तद्वन्मुक्तिः क्वचिन्न किम् ॥' इत्येतद्व्यपोहायाह 'परम्परगतेभ्यः' । परम्परया ज्ञानदर्शनचारित्ररूपया, मिथ्यादृष्टिसास्वादनसम्यग्मिथ्यादृष्ट्यविरतसम्यग्दृष्टिविरताविरतप्रमत्ताप्रमत्तनिवृत्त्यनिवृत्तिबादरसूक्ष्मोपशान्तक्षीणमोहसयोग्ययोगिगुणस्थानभेदभिन्नया, गताः परम्परगताः, एतेभ्यः ।

(ल०—'लोअग्गमुवगयाणं'—) एतेऽपि कैश्चिद् अनियतदेशा अभ्युपगम्यन्ते,—

'यत्र क्लेशक्षयस्तत्र, विज्ञानमवतिष्ठते । बाधा च सर्वथास्येह, तदभावान्न जातुचित् ॥'

—इति वचनात् । एतन्निराचिकीर्षयाऽऽह 'लोकाग्रमुपगतेभ्यः' । लोकाग्रम् ईषत्प्राग्भाराख्यम्, तदुप=सामीप्येन, निरवशेषकर्मविच्युत्या तदपराभिन्नप्रदेशतया, गताः उपगताः । उक्तं च,

जत्थ य एगो सिद्धो तत्थ अणंता भवक्खयविमुक्का ।

अन्नोन्नमणाबाहं चिट्ठंति सुही सुहं पत्ता(प्र०... अन्नोन्नसमोगाढा पुट्ठा सव्वे य लोगंते)॥' तेभ्यः ।

आह,—'कथं पुनरिह सकलकर्मविप्रमुक्तानां लोकान्तं यावद्गतिर्भवति ? भावे वा सर्वदैव कस्मान्न भवतीति ?' अत्रोच्यते, पूर्वाविश(प्र०...वेध)वशाद् दण्डादिचक्रभ्रमणवत् समयमेवैकम-विरुद्धेति न दोष इति; एतेभ्यः ।

(ल० पंचदशविधसिद्धाः—)एवंभूतेभ्यः किमित्याह,—'नमः सदा सर्वसिद्धेभ्यः' । 'नमः' इति क्रियापदं, 'सदा'=सर्वकालं, प्रशस्तभावपूरणमेतदयथार्थमपि फलवत्, चित्राभिग्रहभाववदित्या-चार्याः । 'सर्वसिद्धेभ्यः'=तीर्थसिद्धादिभेदभिन्नेभ्यः; यथोक्तम्, १. तित्थसिद्धा, २. अतित्थ-सिद्धा, ३. तित्थगरसिद्धा, ४. अतित्थगरसिद्धा, ५. सयंबुद्धसिद्धा, ६. पत्तेयबुद्धसिद्धा, ७. बुद्धबोहियसिद्धा, ८. थीलिंगसिद्धा, ९. पुरिसलिंगसिद्धा, १०. नपुंसकलिंगसिद्धा, ११. सलिंग-सिद्धा, १२. अण्णलिंगसिद्धा, १३. गिहिलिंगसिद्धा, १४. एगसिद्धा, १५. अणेगसिद्धा, इति ।

(पं०—) 'चित्राभिग्रहभाववदि'ति,—यथा हि ग्लानप्रतिजागरणादिविषयश्चित्रोऽभिग्रहभावो नित्यमसप-धमानविषयोऽपि शुभभावापूरकस्तथा नमः सदा सर्वसिद्धेभ्य इत्येतत्प्रणिधानम् ।

(ल०—) तत्र (१) तीर्थं प्राग्व्यावर्णितस्वरूपं तच्चतुर्विधः श्रमणसंघः, तस्मिन्नुत्पन्ने ये सिद्धास्ते तीर्थसिद्धाः । (२) अतीर्थे सिद्धा अतीर्थसिद्धाः तीर्थान्तरसिद्धा इत्यर्थः । श्रूयते च 'जिणंतरे साहुवोच्छेओ'त्ति तत्रापि जातिस्मरणादिनाऽवाप्तापवर्गमार्गाः सिध्यन्त्येव मरुदेवीप्रभृतयो वा अतीर्थसिद्धाः, तदा तीर्थस्यानुपन्नत्वात् । (३) तीर्थकरसिद्धाः तीर्थकरा एव (४) अतीर्थकरसिद्धा अन्ये सामान्यकेवलिनः । (५) स्वयंबुद्धसिद्धाः स्वयंबुद्धाः सन्तो ये सिद्धाः । (६) प्रत्येकबुद्धसिद्धाः-प्रत्येकबुद्धाः सन्तो ये सिद्धाः ।

(ल०—) अथस्वयंबुद्ध-प्रत्येकबुद्धसिद्धयोः कः प्रतिविशेषः इति ? उच्यते, १.बोध्यु-२ पधि-३.श्रुत-४.लिङ्गकृतो विशेषः तथाहि,-स्वयंबुद्धा बाह्यप्रत्ययमन्तरेण बुध्यन्ते, प्रत्येकबुद्धास्तु न तद्विर-हेण श्रूयते च बाह्यवृषभादिप्रत्ययसापेक्षा करकण्ड्वादीनां प्रत्येकबुद्धानां बोधिः नैवं स्वयंबुद्धानां जातिस्मरणादीनामिति । उपधिस्तु स्वयं बुद्धानां द्वादशविधः पात्रादिः, प्रत्येकबुद्धानां तु नवविधः प्रावरणवर्जः । स्वयंबुद्धानां पूर्वाधीतश्रुतेऽनियमः, प्रत्येकबुद्धानां तु नियमतो भवत्येव । लिङ्गप्रति-पत्तिः स्वयंबुद्धानामाचार्यसन्निधावपि भवति, प्रत्येकबुद्धानां तु देवता प्रयच्छतीत्यलं विस्तरेण ।

(ल०)–●(७) बुद्धबोधितसिद्धा बुद्धा आचार्यास्तैर्बोधिताः सन्तो ये सिद्धास्ते इह गृह्यन्ते । ●(८) एते च सर्वेऽपि स्त्रीलिङ्गसिद्धाः केचित्, ●(९) केचित्पुंल्लिङ्गसिद्धाः, ●(१०) केचिन्नपुंसकलिङ्गसिद्धाः । आह,–'तीर्थकरा अपि स्त्रीलिङ्गसिद्धा भवन्ति ?' । भवन्तीत्याह, यत उक्तं सिद्धप्राभृते, 'सव्वत्थोवा तित्थयरिसिद्धा, तित्थयरितित्थे णोतित्थयरसिद्धा असंखेज्जगुणा, तित्थयरितित्थे णोतित्थयरिसिद्धा असंखेज्जगुणाओ'इति । (तीर्थकराः)न नपुंसकलिङ्गसिद्धाः । प्रत्येकबुद्धास्तु पुंल्लिङ्गा एव । (११) स्वलिङ्गसिद्धा द्रव्यलिङ्गं प्रति रजोहरणगोच्छगधारिणः,(१२) अन्यलिङ्गसिद्धाः परिव्राजकादिलिङ्गसिद्धाः, (१३) गृहिलिङ्गसिद्धा मरुदेवीप्रभृतयः । (१४) 'एगसिद्धा' इति एकस्मिन् समये एक एव सिद्धः, (१५) 'अणेगसिद्धा' इति एकस्मिन् समये यावदष्टशतं सिद्धम् ; यत उक्तम्-'बत्तीसा अडयाला सट्ठी बावत्तरी य बोधव्वा । चुलसीई छण्णउई दुरहिय अट्ठुत्तरसयं च ॥'

अत्राह चोदकः 'ननु सर्व एवैते भेदास्तीर्थसिद्ध-अतीर्थसिद्ध-भेदद्वयान्तर्भाविनः, तथाहि तीर्थसिद्धा एव तीर्थकरसिद्धाः, अतीर्थकरसिद्धा अपि तीर्थसिद्धा वा स्युरतीर्थसिद्धा वा, इत्येवं शेषेष्वपि भावनीयमित्यतः किमेभिरिति ?' । अत्रोच्यते,–अन्तर्भावे सत्यपि पूर्वभेदद्वयादेवोत्तरोत्तरभेदाप्रतिपत्तेरज्ञातज्ञापनार्थं भेदाभिधानमित्यदोषः ।

(प०–) 'न नपुंसकलिङ्ग'इति, नपुंसकलिंगे तीर्थकरसिद्धा न भवन्तीति बोध्यम् ।

(ल०–'जो देवाण वि०...) इत्थं सामान्येन सर्वसिद्धनमस्कारं कृत्वा पुनरासन्नोपकारित्वाद् वर्तमानतीर्थाधिपतेः श्रीमन्महावीरवर्धमानस्वामिनः स्तुतिं कुर्वन्ति,–'जो देवाण वि देवो' इत्यादि ।

('जो देवाण वि देवो, जं देवा पंजली नमंसंति । तं देवदेवमहियं सिरसा वंदे महावीरं ॥')

अस्य व्याख्याः 'यो' भगवान् वर्द्धमानः, 'देवानामपि' भवनवास्यादीनां, 'देवः' पूज्यत्वात्,–'यं देवाः' 'प्राञ्जलयो नमस्यन्ति' = विनयरचितकरपुटाः सन्तः प्रणमन्ति, 'तं''देवदेवमहियं'देवदेवाः शक्रादयः, तैर्महितः=पूजितः, 'सिरसा'=उत्तमाङ्गेनेत्यादरप्रदर्शनार्थमाह, 'वन्दे', कं ? 'महावीरं' ईर गतिप्रेरणयोरित्यस्य विपूर्वस्य विशेषेण ईरयति कर्म गमयति, याति चेह शिवमिति वीरः, महांश्चासौ वीरश्च महावीरः । उक्तं च,–'विदारयति यत्कर्म तपसा च विराजते । तपोवीर्येण युक्तश्च, तस्माद् वीर इति स्मृतः ॥ १ ॥, तम् ।

(ल०-इक्को वि नमुक्कारो०'–) इत्थं स्तुतिं कृत्वा पुनः परोपकारायाऽऽत्मभाववृद्धये फलप्रदर्शनपरमिदं पठति पठन्ति वा, 'एक्को वि णमोक्कारो'इत्यादि ।

('एक्को वि णमोक्कारो जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स । संसारसागराओ तारेइ नरं व नारिं वा ॥३॥')

अस्य व्याख्या,–'एकोऽपि नमस्कारः' तिष्ठन्तु बहवः, 'जिनवरवृषभाय' वर्द्धमानाय यत्नात् क्रियमाणः सन् , किम् ? संसरणं 'संसारः' तिर्यग्नरनारकामरभवानुभवलक्षणः स एव भवस्थिति-

कायस्थितिभ्यामनेकधावस्थानेनालब्धपारत्वात् 'सागर' इव संसारसागरः, तस्मात् 'तारयति'=अपनयतीत्यर्थः,'नरं व नारिं वा' पुरुषं वा स्त्रियं वा। पुरुषग्रहणं पुरुषोत्तमधर्मप्रतिपादनार्थं, स्त्रीग्रहणं तासामपि तद्भव एव संसारक्षयो भवतीति ज्ञापनार्थम्।

(ल०—स्त्रीमुक्तौ यापनीयतन्त्रप्रमाणम्:—) यथोक्तं यापनीयतन्त्रे 'णो खलु इत्थी अजीवो (प्र०...अजीवे), ण यावि अभव्वा, ण यावि दंसणविरोहिणी(प्र०...विराहिणी), णो अमाणुसा, णो अणारिउप्पत्ती, णो असंखेज्जाउया, णो अइकूरमई, णो ण उवसन्तमोहा, णो ण सुद्धाचारा, णो असुद्धबोंदी, णो ववसायवज्जिया, णो अपुव्वकरणविरोहिणी(प्र०...विराहिणी), णो णवगुणठाणरहिया, णो अजोग्गा लद्धीए, णो अकल्लाणभायणं ति कहं न उत्तमधम्मसाहिग त्ति''।

तत्र 'न खलु' इति 'नैव स्त्री अजीवो वर्तते किन्तु जीव एव, जीवस्य चोत्तमधर्मसाधकत्वाविरोधस्तथादर्शनात् । न जीवोऽपि सर्व्व उत्तमधर्म्मसाधको भवति, अभव्येन व्यभिचारात् , तद्व्यपोहायाह 'न चाप्यभव्या' जातिप्रतिषेधोऽयम् । यद्यपि काचिदभव्या तथापि सर्व्वैवाभव्या न भवति, संसारनिर्वेदनिर्वाणधर्माद्वेषशुश्रूषादिदर्शनात् । भव्योऽपि कश्चिद्दर्शनविरोधी यो न सेत्स्यति तन्निरासायाह 'नो दर्शनविरोधिनी', दर्शनमिह सम्यग्दर्शनं परिगृह्यते तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं, न तद्विरोधिन्येव, आस्तिक्यादिदर्शनात् ।

(ल०—) दर्शनाविरोधिन्यपि अमानुषी नेष्यत एव, तत्प्रतिषेधायाह 'नो अमानुषी', मनुष्यजातौ भावात् विशिष्टकरचरणोरुग्रीवाद्यवयवसन्निवेशदर्शनात् । मानुष्यप्यनार्योत्पत्तिरनिष्टा, तदपनोदायाह 'नो अनार्योत्पत्तिः' आर्येष्वप्युत्पत्तेः, तथादर्शनात् । आर्योत्पत्तिरप्यसंख्येयायुर्नाधिकृतसाधनायेत्येतदधिकृत्याह 'नो असंख्येयायुः' सर्वत्र, संख्येयायुर्युक्ताया अपि भावात् , तथादर्शनात् । संख्येयायुरपि अतिक्रूरमतिः प्रतिषिद्धा तन्निराचिकीर्षयाह 'नातिक्रूरमतिः', सप्तमनरकायुर्निबन्धनरौद्रध्यानाभावात् ।

(पं०—) 'सप्तमे'त्यादि, सप्तमनरकेऽतिक्लिष्टसत्त्वस्थाने आयुषो निबन्धनस्य रौद्रध्यानस्य तीव्रसक्लेशरूपस्याभावात् स्त्रीणां, 'षष्ठीं च स्त्रिय' इतिवचनात् ।

(ल०— स्त्रीणामशुभवदुत्कृष्टशुभध्यानमपि कथम् ?) तद्वत्प्रकृष्टशुभध्यानाभाव इति चेत् ? न, तेन तस्य प्रतिबन्धाभावात् , तत्फलवदितरफलभावेनानिष्टप्रसङ्गात् ।

(पं०—) 'तद्वत्'=प्रकृतरौद्रध्यानस्येव 'प्रकृष्टस्य'=मोक्षहेतोः'शुभध्यानस्य' शुक्लरूपस्य 'अभाव', 'इति'=एवं, 'चेत्' अभ्युपगमो भवतः, अस्य परिहारमाह'न'=नैवैतत्परोक्तं, कुत इत्याह'तेन'=प्रकृतरौद्रध्यानेन 'तस्य'=प्रकृतशुभध्यानस्य, 'प्रतिबन्धाभावाद्'=अविनाभावायोगात् तत्प्रतिबन्धसिद्धौ हि व्यापककारणयोर्वृक्षत्वधूमध्वजयोर्निवृत्तौ शिंशपाधूमनिवृत्तिवत् प्रकृतरौद्रध्यानाभावे प्रकृष्टशुभध्यानाभाव उपन्यसितुं युक्तः । न चा-

स्ति प्रतिबन्धः, कुत इत्याह 'तत्फलवत्' तस्य प्रकृष्टशुभध्यानस्य फल मुक्तिगमनं, तस्येव,'इतरफलभावेन' प्रकृतरौद्रध्यानफलस्य सप्तमनरकगमनलक्षणस्य भावेन=युगपत्सत्तया, 'अनिष्टप्रसङ्गात्'=परमपुरुषार्थोपघातरूपस्यानिष्टस्य प्रसङ्गात् । प्रतिबन्धसिद्धौ हि शिंशपात्वे इव वृक्षत्व, धूम इव वा धूमध्वजः, प्रकृष्टशुभध्यानभावे स्वफलकारिण्यवश्यंभावी प्रकृतरौद्रध्यानभावः स्वकार्यकारी, स्वकार्यकारित्वाद्वस्तुनः, स्वकार्यमाक्षिपत् कथमिव परमपुरुषार्थं नोपहन्यादिति।

(ल०–) अक्रूरमतिरपि रतिलालसाऽसुन्दरैव, तदपोहायाह–**'नो न उपशान्तमोहा'**, काचिदुपशान्तमोहापि संभवति, तथादर्शनात् । उपशान्तमोहापि अशुद्धाचारा गर्हिता, तत्प्रतिक्षेपायाह–**'नो न शुद्धाचारा'** काचित् (प्र०...कदाचित्) शुद्धाचारापि भवति, औचित्येन परापकरणवर्जना(प्र०...परोपकरणार्ज्जना)द्याचारदर्शनात् । शुद्धाचारापि अशुद्धबोन्दिरसाध्वी तदपनोदायाह–**'नो अशुद्धबोन्दिः'**; काचित् शुद्धतनुरपि भवति, प्राक्कर्मानुवेधतः (प्र०...०नुरोधतः) संसञ्जनाद्यशुद्ध्यदर्शनात् कक्षास्तनादिदेशेषु । शुद्धबोन्दिरपि व्यवसायवर्जिता निन्दितैव, तन्निरासायाह–**'नो व्यवसायवर्जिता'**; काचित् परलोकव्यवसायिनी, शास्त्रात् (प्र०...शास्त्रादौ) तत्प्रवृत्तिदर्शनात् ।

(ल०–) सम्यक्त्वमावाप्यपूर्वकरणविरोधिनी विरोधिन्येव, तत्प्रतिषेधमाह **'नो अपूर्वकरणविरोधिनी'**, अपूर्वकरणसंभवस्य स्त्रीजातावपि प्रतिपादितत्वात् । अपूर्वकरणवत्यपि नवगुणस्थानरहिता नेष्टसिद्धये (इति) इष्टसिद्ध्यर्थमाह **'नो नवगुणस्थानरहिता'**, तत्संभवस्य तस्याः प्रतिपादितत्वात् । नवगुणस्थानसङ्गतापि लब्ध्ययोग्या अकारणमधिकृतविधेः, इत्येतत्प्रतिक्षेपायाह–**'नायोग्या लब्धेः'**, आमर्षौषध्यादिरूपायाः कालौचित्येनेदानीमपि दर्शनात् ।

(ल०–द्वादशाङ्गवत्कैवल्यस्य कथं न भावः ?) कथं द्वादशाङ्गप्रतिषेधः ? तथाविधविग्रहे ततो दोषात् ; श्रेणिपरिणतौ तु कालगर्भवद् भावतो भावोऽविरुद्ध एव । लब्धियोग्यापि अकल्याणभाजनोपघाता (प्र०.. ०नोपघातात्) नाभिलषितार्थसाधनायालमित्यत आह **'नाकल्याणभाजनं'**, तीर्थकरजननात् ; नातः परं कल्याणमस्ति । यत एवमतः कथं **नोत्तमधर्मसाधिका** ? इति उत्तमधर्म्मसाधिकैव ।

अनेन तत्तत्कालापेक्षयैतावद्गुणसंपत्समन्वितैवोत्तमधर्म्मसाधिकेति विद्वांसः । केवलसाधकश्चायं, सति च केवले नियमान्मोक्षप्राप्तिरित्युक्तमानुषङ्गिकम् । तस्मान्नमस्कारः कार्य इति ।

(पं०–) 'श्रेणी'त्यादि, **'श्रेणिपरिणतौ तु'** =क्षपकश्रेणिपरिणामे पुनः वेदमोहनीयक्षयोत्तरकाल, **'कालगर्भवत्'**,काले=प्रौढे ऋतुप्रवृत्त्युचिते उदरसत्त्व इव, **भावतो'**=द्वादशाङ्गार्थोपयोगरूपात्, न तु शब्दतोऽपि **भावः'**=सत्ता द्वादशाङ्गस्य, 'अविरुद्धो'=न दोषवान् । इदमत्र हृदयम् ,–अस्ति हि स्त्रीणामपि प्रकृत-

युक्त्या केवलप्राप्तिः, शुक्लध्यानसाध्यं च तत्, 'ध्यानान्तरिकाया शुक्लध्यानाद्यभेदद्वयावसान उत्तरभेदद्वयानारम्भरूपायां वर्तमानस्य केवलमुत्पद्यते' इतिवचनप्रामाण्यात् । न च पूर्वगतमन्तरेण शुक्लध्याना ऽऽद्यभेदौ स्तः 'आद्ये पूर्वविदः' (तत्त्वार्थ० ९–३९) इतिवचनात्, 'दृष्टिवादश्च न स्त्रीणामि'तिवचनात्, अतस्तदर्थोपयोगरूपः क्षपकश्रेणिपरिणतौ स्त्रीणा द्वादशाङ्गभावः क्षयोपशमविशेषाददुष्ट इति ।

(ल० स्तुतिः किमर्थवादो, विधिवादो वा ?–) आह,–"किमेष स्तुत्यर्थवादो यथा–'एकया पूर्णाहुत्या (प्र०...पूर्णयाऽऽहुत्या) सर्वान् कामानवाप्नोती'ति ? उत विधिवाद एव यथा–'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम' इति ? किं चातः ? यद्याद्यः पक्षः, ततो यथोक्तफलशून्यत्वात् फलान्तरभावे च तदन्यस्तुत्यविशेषादलमिहैव यत्नेन । न च यक्षस्तुतिरप्यफलैवेति प्रतीतमेवैतत् । अथ चरमो विकल्पः, ततः सम्यक्त्वाणुव्रतमहाव्रतादिचारित्रपालना(प्र०...पालनादि)वैयर्थ्यम्, तत एव मुक्तिसिद्धेः । न च फलान्तरसाधकमिष्यते सम्यक्त्वादि, मोक्षफलत्वेनेष्टत्वात्, 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इतिवचनादिति (तत्त्वार्थ० १।१)"

(पं०–) 'स्तुत्यर्थवाद' इति, स्तुतये=स्तुत्यर्थं, अर्थवादः=प्रशंसा, स्तुत्यर्थवादः । विप्लावनाद्यर्थमपि अर्थवादः स्यात्, तद्व्यवच्छेदार्थं स्तुतिग्रहणमिति ।

(ल०–स्तुतिः विधिवादः) अत्रोच्यते–विधिवाद एवायं; न च सम्यक्त्वादिवैयर्थ्यं तत्त्वतस्तद्भाव एवास्य भावात् । दीनारादिभ्यो भूतिन्याय एषः, तदवन्ध्यहेतुत्वेन तथा तद्भावोपपत्तेः । अवन्ध्यहेतुश्चाधिकृतफलसिद्धौ भावनमस्कार इति ।

(पं०–) 'तत्त्वत' इत्यादि । तत्त्वतो=निश्चयवृत्त्या, 'तद्भाव एव'=सम्यग्दर्शनादिभाव एव, 'अस्य'=नमस्कारस्य, 'भावात्' । द्रव्यतः पुनरन्यथाप्ययं स्यादिति तत्त्वग्रहणम् । इदमेव सदृष्टान्तमाह 'दीनारादिभ्यो'=दीनारप्रभृतिप्रशस्तवस्तुभ्यो, 'भूतिन्यायो'=विभूतिदृष्टान्त, तत्सदृशत्वाद् भूतिन्यायः, 'एष'=सम्यक्त्वादिभ्यो नमस्कारः । एतदपि कुत इत्याह 'तदवन्ध्यहेतुत्वेन', तस्य=नमस्कारस्य साध्यस्य, अवन्ध्यहेतुत्वेन=नियतफलकारिहेतुभावेन सम्यक्त्वादीनां, 'तथा'=भावनमस्कार(प्र० ..नमस्कारभाव) रूपतया, 'तद्भावोपपत्तेः'=सम्यक्त्वादीना परिणत्युपपत्तेः भूतिपक्षे तु तस्या=भूते, अवन्ध्यहेतुत्वेन दीनारादीना, तथा=भूतितया, तेषां=दीनारादीनां, परिणतेः=घटनादिति योज्यमिति । भवतु नामैवं तथापि कथं प्रकृतससारोत्तारसिद्धिरित्याशङ्क्याह 'अवन्ध्यहेतुश्च'=अस्खलितकारणं च, 'अधिकृतफलसिद्धौ' मोक्षलक्षणाया, 'भावनमस्कारो' भगवत्प्रतिपत्तिरूपः, इति कथं न मोक्षफलं सम्यग्दर्शनादि ? परम्परया मोक्षस्य तत्फलत्वादिति ।

(ल०–अर्थवादेऽप्युपपत्तिः) अर्थवादपक्षेऽपि न सर्वा स्तुतिः समानफलेत्यतो विशिष्टफलहेतुत्वेनात्रैव यत्नः कार्यः; तुल्ययत्नादेव विषयभेदेन फलभेदोपपत्तेः; चिन्तारत्नपाषाणपादौ प्रतीतमेतत् । भगवन्नमस्कारश्च परमात्मविषयतयोपमातीतो वर्त्तते; यथोक्तम्

'कल्पद्रुमः परो मन्त्रः, पुण्यं चिन्तामणिश्च यः। गीयते स नमस्कारस्तथैवाहुरपण्डिताः ॥१॥
'कल्पद्रुमो महाभागः, कल्पनागोचरं फलम्। ददाति न च मन्त्रोऽपि, सर्वदुःखविषापहः ॥२॥
'न पुण्यमपवर्गाय, न च चिन्तामणिर्यतः। तत्कथं ते नमस्कार एभिस्तुल्योऽभिधीयते? ॥३॥

इत्यादि। एतास्तिस्रः स्तुतयो नियमेनोच्यन्ते। केचित्तु अन्या अपि पठन्ति, न च तत्र नियम इति न तद्व्याख्यानक्रिया।

(पं०-) 'कल्पद्रुमे'त्यादिश्लोकः, 'कल्पद्रुमः'-कल्पवृक्षः, 'परो मन्त्रः'-हरिणैगमेषादिः, 'पुण्यं'= तीर्थकरनामकर्म्मादि, 'चिन्तामणिः' मणिविशेषः, 'यो गीयते'=यः श्रूयते जगतीष्टफलदायितया, 'तथैव'= गीयमानकल्पद्रुमादिप्रकार एव 'स', भगवंस्तव 'नमस्कार', 'आहुः', अपण्डिताः=अकुशलाः, 'एतदि'ति शेषः।

वेयावच्चगराणं०

(ल०-) एवमेतत्पठित्वो(प्र०...तो)पचितपुण्यसंभारा उचितेषूपयोगफलमेतदिति ज्ञापनार्थं पठन्ति-'वेयावच्चगराणं संतिगराणं सम्मद्दिट्ठिसमाहिगराणं करेमि काउस्सग्गमि'त्यादि यावद्वोसिरामि।

व्याख्या पूर्ववत्; नवरं वैयावृत्त्यकराणां=प्रवचनार्थं व्यापृतभावानां यथाम्बाकुष्माण्डयादीनां, शान्तिकराणां क्षुद्रोपद्रवेषु, सम्यग्दृष्टीनां सामान्येनान्येषां, समाधिकराणां स्वपरयोस्तेषामेव स्वरूपमेतदेवैषामिति वृद्धसंप्रदायः। एतेषां संबन्धिनं, सप्तम्यर्थे वा षष्ठी, एतद्विषयम्= एतान्(प्र०...एतान्वा)आश्रित्य। करोमि कायोत्सर्गमिति। कायोत्सर्गविस्तरः पूर्ववत् स्तुतिश्च।

(पं०-) 'उचितेषूपयोगफलमेतदिति', 'उचितेषु'-लोकोत्तरकुशलपरिणामनिबन्धनतया योग्येष्वर्हदादिषु, 'उपयोगफलं'=प्रणिधानप्रयोजनम्, 'एतत्'-चैत्यवन्दनम्, 'इति'=अस्यार्थस्य, 'ज्ञापनार्थमि'ति।

(ल०-वैयावृत्त्यकर्त्रादिभिरज्ञातेऽपि पुण्यबन्धः) नवरमेषां वैयावृत्त्यकराणां तथा तद्भाववृद्धिरित्युक्तप्रायम्। तदपरिज्ञानेऽप्यस्मात् तच्छुभसिद्धाविदमेव वचनं ज्ञापकम्। न चासिद्धमेतद्, अभिचारुकादौ तथेक्षणात्। सदौचित्यप्रवृत्त्या सर्वत्र प्रवर्तितव्यमित्यैदम्पर्यमस्य। तदेतत् सकलयोगबीजम्। 'वन्दनादिप्रत्ययम् (वंदणवत्तियाए)' इत्यादि न पठ्यते, अपि त्वन्यत्रोच्छ्वसितेन (अन्नत्थ ऊससिएणं) इत्यादि, तेषामविरतत्वात्, सामान्यप्रवृत्तेरित्थमेवोपकारदर्शनात्, वचनप्रामाण्यादिति व्याख्यातं 'सिद्धेभ्यः (सिद्धाणं०)' इत्यादि सूत्रम्।

(पं०-) 'तदपरिज्ञाने'त्यादि=तैः वैयावृत्त्यकरादिभिरपरिज्ञानेऽपि स्वविषयकायोत्सर्गस्य, 'अस्मात्'=

कायोत्सर्गात् , ('तच्छुभसिद्धौ') तस्य=कायोत्सर्गकर्त्तुः,शुभसिद्धौ=विघ्नोपशमपुण्यबन्धादिसिद्धौ, 'इदमेव'= कायोत्सर्गप्रवर्त्तकं, 'वचनं', 'ज्ञापकं'=गमकम् , आप्तोपदिष्टत्वेनाव्यभिचारित्वात् । 'न च'=नैव, 'असिद्धं'= अप्रतिष्ठितं, प्रमाणान्तरेण 'एतद्'=अस्माच्छुभसिद्धिलक्षणं वस्तु, कुत इत्याह 'आभिचारुकादौ' दृष्टान्त-धर्म्मिण्याभिचारुके स्तोभनस्तम्भन-मोहनादिफले कर्म्मणि, 'आदि'शब्दाच्छान्तिकपौष्टिकादिशुभफलकर्म्मणि च, 'तथेक्षणात्'=स्तोभनीयस्तम्भनीयादिभिरविज्ञानेऽपि आप्तोपदेशेन स्तोभनादिकर्म्मकर्त्तुरिष्टफलस्य स्तम्भनादेः प्रत्यक्षानुमानाभ्यां दर्शनात् । प्रयोगः,—यदाप्तोपदेशपूर्वकं कर्म्म तद्विषयेणाज्ञातमपि कर्त्तुरिष्टफलकारि भवति, यथा स्तोभनस्तम्भनादि कर्म्म, तथाचेदं वैयावृत्त्यकरादिविषयकायोत्सर्गकर्म्म(प्र०... करणम्) इति ।

'जय वीयराय०' (प्रणिधानसूत्रम्)

(ल०—योगमुद्रादित्रयस्वरूपम्—) पुनः स ते वा संवेगभावितमतयो विधिनोपविश्य पूर्ववत् प्रणिपातदण्डकादि पठित्वा स्तोत्रपाठपूर्वकं ततः सकलयोगाक्षेपाय प्रणिधानं करोति कुर्वन्ति वा मुक्ता-शुक्त्या; उक्तं च,

'पंचंगो पणिवाओ, थयपाढो होइ जोगमुद्दाए । वंदण जिणमुद्दाए, पणिहाणं मुत्तसुत्तीए ॥१॥
दो जाणू दोण्णि करा, पंचमगं होइ उत्तमंगं तु । संमं संपणिवाओ, णेओ पंचंगपणिवाओ ॥२॥
अण्णोण्णंतरियंगुलि-कोसागारेहिं दोहिं हत्थेहिं । पिट्टोवरिकोप्पर-संठिएहिं तहजोगमुद्दत्ति ॥३॥
चत्तारि अंगुलाइं,पुरओ ऊणाहिं जत्थ पच्छिमओ । पायाणं उस्सग्गो, एसा पुण होइ जिणमुद्दा ॥४॥
मुत्तासुत्ती मुद्दा,समा जहिं दोवि गब्भिया हत्था । ते पुण निडालदेसे, लग्गा अन्ने अलग्गत्ति ॥५॥'

(ल०—प्रणिधानेन समाधिलाभः—)प्रणिधानं यथाशयं, यद् यस्य तीव्रसंवेगहेतुः । ततोऽत्र सद्योगलाभः । यथाहुरन्ये,—'तीव्रसंवेगानामासन्नः समाधिः मृदुमध्याधिमात्रत्वात् , ततोऽपि विशेष इत्यादि' । प्रथमगुणस्थानस्थानां तावदेवंविधमुचितमिति सूरयः ।

(पं०—) 'तत्रोऽत्रे'त्यादि, ततः—तीव्रसंवेगादुक्तरूपाद् , अत्र=प्रणिधाने, 'सद्योगलाभः'=शुद्धसमा-धिप्राप्तिः । परसमयेनापि समर्थयन्नाह 'यथाहुः', 'अन्ये'=पतञ्जलिप्रभृतयः । यदाहुस्तदेव दर्शयति,—'तीव्रसं-वेगानां'—प्रकृष्टमोक्षवाञ्छानाम् , 'आसन्नः'=आशुभावी, 'समाधिः'=मनःप्रसादः, 'यतः' इति गम्यते । अत्रापि तारतम्याभिधानायाह,—'मृदुमध्याधिमात्रत्वात्', मृदुत्वात् सुकुमारतया, मध्यत्वाद् अजघन्यानुत्कृष्टतया, अधिमात्रत्वात् प्रकृष्टतया, तीव्रसंवेगस्य । 'ततोऽपि'=तीव्रसंवेगादपि,किं पुनर्मन्दान्मध्याद्वा संवेगाद् , 'विशेषः' त्रिविधः समाधिरासन्नासन्नतरासन्नतमरूपः, 'आदि'शब्दान्मृदुना मध्येनाधिमात्रेण चोपायेन यमनियमादिना (प्र० ..नियमादि)समवाय(प्र० ..समय)वशात् प्रत्येकं मृदुमध्याधिमात्रभेदभिन्नतया त्रिविधस्य समाधेर्भावात् नवधासौ वाच्य इति ।

(ल०–) 'जय वीयराय ! जगगुरु ! होउ मम तुहप्पभावओ भयवं ! ।
भवनिव्वेओ मग्गाणुसारिआ इट्ठफलसिद्धी ॥ १ ॥
लोयविरुद्धच्चाओ, गुरुजणपूआ परत्थकरणं च ।
सुहगुरुजोगो तव्वयणसेवणा आभवमखण्डा ॥ २ ॥'

अस्य व्याख्या,–'जय वीतराग ! जगद्गुरो !'–भगवतस्त्रिलोकनाथस्यामन्त्रणमेतद् भावसन्निधानार्थम् । 'भवतु मम त्वत्प्रभावतो'–जायतां मे त्वत्सामर्थ्येन; 'भगवन् !', किं तदित्याह 'भवनिर्वेदः'–संसारनिर्वेदः, न ह्यतोऽनिर्विण्णो मोक्षाय यतते, अनिर्विण्णस्य तत्प्रतिबन्धात् , तत्प्रतिबद्धयत्नस्य च तत्त्वतोऽयत्नत्वात् ; निर्जीव(प्र०... निर्बीज)क्रियातुल्य एषः । तथा 'मार्गानुसारिता'–असद्ग्रहविजयेन तत्त्वानुसारितेत्यर्थः । तथा 'इष्टफलसिद्धिः'=अविरोधिफलनिष्पत्तिः, अतो हीच्छाविघाताभावेन सौमनस्यं, तत उपादेयादरः, न त्वयमन्यत्रानिवृत्तौत्सुक्यस्य, इत्ययमपि विद्वज्जनवादः ।

(पं०–) 'अतोही'त्यादि, अतः=इष्टफलसिद्धेः, हिः=यस्माद् , 'इच्छाविघाताभावेन'=अभिलाषभङ्गनिवृत्त्या, किमित्याह 'सौमनस्यं'=चित्तप्रसादः, 'ततः'=सौमनस्याद् , 'उपादेयादरः', उपादेये–देवपूजनादौ,आदरः=प्रयत्नः । अन्यथापि कस्यचिदयं स्यादित्याशङ्क्याह 'न तु'=न पुनः, 'अयम्'=उपादेयादरः, 'अन्यत्र'=जीवनोपायादौ, 'अनिवृत्तौत्सुक्यस्य=अव्यावृत्ताकाङ्क्षातिरेकस्येति, तदौत्सुक्येन चेतसो विह्वलीकृतत्वात् ।

(ल०–) तथा 'लोकविरुद्धत्यागः' लोकसंक्लेशकरणेन तदनर्थयोजनया महदेतदपायस्थानम् । तथा 'गुरुजनपूजा' मातापित्रादिपूजेतिभावः । तथा 'परार्थकरणं च' सत्त्वार्थकरणं च, जीवलोकसारं पौरुषचिह्नमेतत् । सत्येतावति लौकिके सौन्दर्ये लोकोत्तरधर्म्माधिकारीत्यत आह 'शुभगुरुयोगो'=विशिष्टचारित्रयुक्ताचार्यसम्बन्धः, अन्यथाऽपान्तराले सदोषपथ्यलाभतुल्योऽयमित्ययोग एव । तथा 'तद्वचनसेवना'=यथोदितगुरुवचनसेवना, न जातुचिदयमहितमाहेति । न सकृत् नाप्यल्पकालमित्याह 'आभवमखण्डा' आजन्म आसंसारं वा संपूर्णा भवतु ममेति । एतावत्कल्याणावाप्तौ द्रागेव नियमादपवर्ग्गः, फलति चैतदचिन्त्यचिन्तामणेर्भगवतः प्रभावेनेति गाथाद्वयार्थः ।

(ल०–१. २.–प्रणिधानस्य आवश्यकताफले–) सकलशुभानुष्ठाननिबन्धनमेतद् अपवर्गफलमेव । (३. निदान वैलक्षण्यम्–) अनिदानम् , तल्लक्षणायोगादिति दर्शितम् । असङ्गतासक्तचित्तव्यापार एष महान् । (४. सिद्ध्यर्थमाद्यसोपानं–) न च प्रणिधानाद् ऋते प्रवृत्त्यादयः । एवं कर्तव्यमेवैतदिति, प्रणिधान-प्रवृत्ति-विघ्नजय-सिद्धि-विनियोगानामुत्तरोत्तरभावात् । आशयानुरूपः कर्म्मबन्ध इति । न खलु तद्विपाकतोऽस्यासिद्धिः स्यात् । युक्त्यागमसिद्धमेतद् , अन्यथा प्रवृत्त्याद्ययोगः, उपयोगाभावादिति ।

(ल०-५-६-७.प्रणिधानाधिकारित्वलक्षण-महत्त्वानि:-) ५.नानधिकारिणामिदम् । अधिकारिणश्चास्य य एव वन्दनाया उक्ताः, तद्यथा-एतद्बहुमानिनो विधिपरा उचितवृत्तयश्चोक्तलिङ्गा एव । प्रणिधान-लिङ्गं तु विशुद्धभावनादि; यथोक्तं, ६.-'विशुद्धभावनासारं तदर्थार्पितमानसम् । यथाशक्तिक्रियालिङ्गं, प्रणिधानं मुनिर्जगौ ॥१॥' इति । ७. स्वल्पकालमपि शोभनमिदं, सकलकल्याणाक्षेपात् ।

(पं०-) 'स्वल्पे'त्यादि, 'स्वल्पकालमपि'=परिमितमपि कालं, 'शोभनम्' उत्तमार्थहेतुतया, 'इदं' प्रणिधानम् । कुत इत्याह 'सकलकल्याणाक्षेपात्'=निखिलाभ्युदयनिःश्रेयसावन्ध्यनिबन्धनत्वात् ।

(ल०-८. ९.-प्रणिधानप्रत्यक्षपरोक्षलाभौ:-) अतिगम्भीरोदार(प्र०...०दाररूप)मेतत् । अतो हि प्रशस्तभावलाभाद्विशिष्टक्षयोपशमादिभावतः प्रधानधर्मकायादिलाभः । तत्रास्य सकलो-पाधिशुद्धिः(प्र०...विशुद्धिः), दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवनेन श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञावृद्ध्या ।

(पं०-)इदमेव भावयति 'अतिगम्भीरोदारमि'ति प्राग्वत्, 'एतत्'=प्रणिधानं, कुत इत्याह 'अतः'= प्रणिधानाद्, 'हि:'=यस्मात्, 'प्रशस्तभावलाभात=रागद्वेषमोहैरच्छुप्तपरिणामप्राप्तेः, किमित्याह 'विशिष्ट-स्य' मिथ्यात्वमोहनीयादेः शुद्धमनुजगतिसुसंस्थानसुसंहननादेश्च कर्म्मणो यथायोगं 'क्षयोपशमस्य'=एकदेश-क्षयलक्षणस्य, 'आदि'शब्दाद् बन्धस्य, 'भावतः'=सत्तायाः, प्रेत्य 'प्रधानधर्मकायादिलाभः', प्रधा-नस्य'=दृढसंहननशुभसंस्थानतया सर्वोत्कृष्टस्य, 'धर्मकायस्य'=धर्म्माराधनार्हशरीरस्य, 'आदि'शब्दादु-ज्ज्वलकुलजात्यायुर्देश(प्र०....जात्यार्यदेश)कल्याणमित्रादेः, 'लाभः'-प्राप्तिः । ततः किमित्याह,-'तत्र'= धर्म्मकायादिलाभे, 'अस्य'-प्रणिधानकर्तुः, 'सकलोपाधिविशुद्धिः'=प्रलीननिखिलकलङ्कस्थानतया सर्वविशेषण-शुद्धिः । कथमित्याह,-'दीर्घकालं'-पूर्वलक्षादिप्रमाणतया, 'नैरन्तर्येण'=निरन्तरायसातत्येन, 'सत्कारस्य'= जिनपूजायाः, 'आसेवनम्'=अनुभवः, तेन, 'श्रद्धा'-शुद्धमार्गरुचिः, वीर्यम्'=अनुष्ठानशक्तिः, 'स्मृतिः'= अनुभूतार्थविषया ज्ञानवृत्तिः, 'समाधिः'=चित्तस्वास्थ्यं, 'प्रज्ञा'=बहुबहुविधादिग्रहणविषयावबोधशक्तिः, तासां 'वृद्ध्या'=प्रकर्षेण । अनासेवितसत्कारस्य हि जन्तोरदृष्टकल्याणतया तदाकाङ्क्षाऽसंभवेन चेतसोऽप्रसन्नत्वात् श्रद्धादीनां तथाविधवृद्ध्यभाव इति ।

(ल०-(१०-११) प्रणिधानमाहात्म्योपदेशौ:-) न हि समग्रसुखभाक् तदङ्गहीनो भवति, तद्वैकल्येऽपि तद्भावेऽहेतुकत्वप्रसङ्गात् ; न चैतदेवं भवतीति योगाचार्यदर्शनम् । 'सेयं भवजलधिनौः प्रशान्तवाहिते'ति परैरपि गीयते । 'अस्य (प्र०...अयम्) अज्ञातज्ञापनफलः सदुपदेशो हृदयानन्द-कारी परिणमत्येकान्तेन, ज्ञाते त्वखण्डन(प्र०...न खण्डन)मेव भावतः, अनाभोगतोऽपि मार्गा-गमनमेव सदन्धन्यायेन,' इत्यध्यात्मचिन्तकाः ।

तदेवंविधशुभफलप्रणिधानपर्यन्तं चैत्यवन्दनम् । तदनु आचार्यादीनभिवन्द्य यथोचितं करोति कुर्वन्ति वा कुग्रहविरहेण ।

(पं०–) इदमेव व्यतिरेकतः प्रतिवस्तूपन्यासेनाह,–'न'=नैव, 'हि'=यस्मात्, 'समग्रसुखभाक्'=संपूर्णवैषयिकशर्मसेवकः, 'तदङ्गहीनः', तस्य=समग्रसुखस्य, अङ्गानि=हेतवो वयोवैचक्षण्य दाक्षिण्य-विभवौदार्य-सौभाग्याद्यः, तैः, हीनो=रहितो, भवति। विपक्षे बाधकमाह–'तद्वैकल्येऽपि'=तदङ्गाभावेऽपि, 'तद्भावे'=समग्रसुखभावे, 'अहेतुकत्वप्रसङ्गात्'=निर्हेतुकत्वप्राप्तेरिति। 'सेयमि'तिप्रणिधानलक्षणा। 'प्रशान्तवाहिता' इति, प्रशान्तो–रागादिक्षयक्षयोपशमोपशमवान्, वहति=वर्त्तते, तच्छीलश्च यः स तथा तद्भावस्तत्ता।

(ल० चैत्यवन्दनाद्यर्थं ३३ कर्त्तव्यानि)

एतत्सिद्ध्यर्थं (प्र०...०सिद्धये) तु,

१. यतितव्यमादिकर्माणि
२. परिहर्त्तव्यो अकल्याणमित्रयोगः
३. सेवितव्यानि कल्याणमित्राणि
४. न लङ्घनीयोचितस्थितिः
५. अपेक्षितव्यो लोकमार्गः
६. माननीया गुरुसंहतिः
७. भवितव्यमेतत्तन्त्रेण
८. प्रवर्त्तितव्यं दानादौ
९. कर्त्तव्योदारपूजा भगवतां
१०. निरूपणीयः साधुविशेषः
११. श्रोतव्यं विधिना धर्मशास्त्रं
१२. भावनीयं महायत्नेन
१३. प्रवर्त्तितव्यं विधानतः
१४. अवलम्बनीयं धैर्यं
१५. पर्यालोचनीया आयतिः
१६. अवलोकनीयो मृत्युः
१७. भवितव्यं परलोकप्रधानेन
१८. सेवितव्यो गुरुजनः
१९. कर्त्तव्यं योगपटदर्शनं (प्र०..योगपट्ट०)
२०. स्थापनीयं तद्रूपादि चेतसि
२१. निरूपयितव्या धारणा
२२. परिहर्त्तव्यो विक्षेपमार्गः
२३. यतितव्यं योगसिद्धौ (प्र०...शुद्धौ)
२४. कारयितव्या भगवत्प्रतिमाः
२५. लेखनीयं भुवनेश्वरवचनं
२६. कर्त्तव्यो मङ्गलजापः
२७. प्रतिपत्तव्यं चतुःशरणं
२८. गर्हितव्यानि दुष्कृतानि
२९. अनुमोदनीयं कुशलं
३०. पूजनीया मन्त्रदेवताः
३१. श्रोतव्यानि सच्चेष्टितानि
३२. भावनीयमौदार्यं
३३. वर्त्तितव्यमुत्तमज्ञातेन।

(ल०–अपुनर्बन्धकप्रवृत्तिः सत्प्रवृत्तिः–) एवंभूतस्य या इह प्रवृत्तिः सा सर्वैव साध्वी। मार्गानुसारी ह्ययं नियमादपुनर्बन्धकादिः, तदन्यस्यैवंभूतगुणसम्पदोऽभावात्। अत आदित आरभ्यास्य प्रवृत्तिः सत्प्रवृत्तिरेव नैगमानुसारेण चित्रापि प्रस्थकप्रवृत्तिकल्पा। तदेतदधिकृत्याहुः–'कुठारादिप्रवृत्तिरपि रूपनिर्म्माणप्रवृत्तिरेव। तद्वदादिधार्म्मिकस्य धर्म्मे कार्त्स्न्येन तद्गामिनी, न तु तद्बाधिनीति हार्दाः।

(प०–) 'कुठारे'त्यादि, 'कुठारादिप्रवृत्तिरपि', कुठारादौ=प्रस्थकोचितदारुच्छेदोपयोगिनि शस्त्रे, प्रवृत्तिः=घटन-दण्डसयोग-निशातीकरणादिका, अपि, आस्तां प्रस्थकोत्किरणादिका, 'रूपनिर्माणप्रवृत्तिरेव'=प्रस्थकाद्याकारनिष्पत्तिव्यापार एव, उपकरणप्रवृत्तिमन्तरेण उपकर्त्तव्यप्रवृत्तेरयोगात्। 'तद्वत्'=कुठारादिप्रवृत्तिवद् रूपनिर्म्माणे, 'आदिधार्म्मिकस्य'=अपुनर्बन्धकस्य, 'धर्मे'=धर्म्मविषये, या प्रवृत्तिः देवताप्रणामादिका

सद्वोपापि सा, 'कार्त्स्न्येन'=सामस्त्येन, 'तद्गामिनी'=धर्म्मगामिनी, 'न तु'=न पुनः, 'तद्वाधिनी'=धर्मा-वाधिका, 'इति'=एव, 'हार्दाः'=ऐदम्पर्यान्तगवेषिणः; आहुरिति शेष. ।

(ल०—सत्प्रवृत्तिस्तत्त्वाविरोधिहृदयमूला—) तत्त्वाविरोधकं हृदयमस्य; ततः समन्तभद्रता; तन्मूलत्वात् सकलचेष्टितस्य (अस्य) ।

(पं०—) कुत इदमित्थमित्याह 'तत्त्वाविरोधकं'=देवादितत्त्वा(प्र० . . देवत्वा)प्रतिकूलं, यतो 'हृदयम्,' 'अस्य'=अपुनर्वन्धकस्य, न तु प्रवृत्तिरपि; अनाभोगस्यैव तत्रापराधित्वात् । 'ततः'=तत्त्वाविरोधकात् हृदयात्, 'समन्तभद्रता'=सर्व्वतः कल्याणता, ननु प्रवृत्तेः केवलायाः, कुशलहृदयोपकारित्वात् तस्याः, तस्य च तामन्त-रेणापि क्वचित् फलहेतुत्वात् । कुत इत्याह 'तन्मूलत्वात्'=तत्त्वाविरुद्धहृदयपूर्वकत्वात्, 'सकलचेष्टितस्य', शुभाशुभरूपपुरुषार्थप्रवृत्तिरूपस्य, (अस्यापुनर्वन्धकस्य) ।

(ल० सुप्तमण्डितप्रबोधदर्शनादि—) एवमतोऽपि विनिर्गततत्तद्दर्शनानुसारतः सर्वमिह योज्यं सुप्तमण्डितप्रबोधदर्शनादि । न ह्येवं प्रवर्तमानो नेष्टसाधक इति । भग्नोऽप्येतद्यत्नलिङ्गोऽ-पुनर्वन्धकः, इति तं प्रत्युपदेशसाफल्यम् ।

(पं०—) 'एवं'=प्रस्थकदृष्टान्तवद्, 'अतोऽपि'=जैनदर्शनादेव, 'विनिर्गतानि'=पृथग्भूतानि, 'तानि तानि', यानि 'दर्शनानि'—प्रवादाः (प्र० ...नयवादाः), तेषामनुसारतः=तत्रोक्तमित्यर्थः, 'सर्व्वं'=दृष्टान्तजालम्, 'इह' दर्शने, 'योज्यम्', किंविशिष्टमित्याह 'सुप्तमण्डितप्रबोधदर्शनादि',=यथा कस्यचित् सुप्तस्य सतो मण्डितस्य कुङ्कुमादिना, प्रबोधे=निद्रापगमे, अन्यथाभूतस्य सुन्दरस्य चात्मनो, दर्शनम्=अवलोकनम्, आश्चर्यकारि भवति, तथाऽपुनर्वन्धकस्यानाभोगवतो विचित्रगुणालङ्कृतस्य सम्यग्दर्शनादिलाभकाले विस्मयकारि आत्मनो दर्शनमिति । 'आदि'शब्दान्नावादिना सुप्तस्य सतः समुद्रोत्तीर्णस्य बोधेऽपि तीर्णदर्शनादि ग्राह्यमिति । दार्ष्टान्तिकसिद्धयर्थमाह 'न'=नैव, 'हिः'=यस्माद्, 'एवं'—प्रस्थककर्तृ(प्र० . कर्त्तन)न्यायेन, 'प्रवर्तमानो'-ऽपुनर्वन्धको, 'न'=नैव, 'इष्टसाधकः'—प्रस्थकतुल्यसम्यक्त्वादिसाधकः; अपि तु साधक एवेति । अपुनर्वन्धकस्यैव लक्षणमाह 'भग्नोऽपि'—अपुनर्वन्धकोचितसमाचारात् कथंचित् च्युतोऽपि, 'एतद्यत्नलिङ्गः'=पुनः स्वोचिताचार-प्रबलावसेयो, 'अपुनर्वन्धकः'=आदिधार्म्मिकः, 'इति' ।

(ल०—दर्शनान्तरेषु आदिधार्मिकाः—) 'नानिवृत्ताधिकारायां प्रकृतावेवंभूत' इति कापिलाः । 'न अनवाप्तभवविपाक' इति च सौगताः । 'अपुनर्वन्धकास्त्वेवंभूता' इति जैनाः । तच्छ्रोतव्यमेतदा-दरेण, परिभावनीयं सूक्ष्मबुद्ध्या । शुष्केक्षुचर्वणप्रायमविज्ञातार्थमध्ययनम्, रसतुल्यो ह्यत्रार्थः । स खलु प्रीणयत्यन्तरात्मानं, ततः संवेगादिसिद्धेः; अन्यथात्वदर्शनात् । तदर्थं चैव प्रयास इति न प्रारब्धप्रतिकूलमासेवनीयं । प्रकृतिसुन्दरं चिन्तामणिरत्नकल्पं संवेगकार्यं चैतद्, इति महाकल्याण-विशेषवित् न चिन्तनीयम् । चिन्तामणिरत्नेऽपि सम्यग्ज्ञातगुण एव श्रद्धातिशय(प्र०...द्धाशय)-भावतोऽविधिविरहेण(प्र०...ऽनवधिविरहेण) महाकल्याणसिद्धि(प्र०...सिद्धे)रित्यलं प्रसङ्गेन ।

(पं०–) 'एतदि'ति'=इदमेव प्रकृतं चैत्यवन्दनव्याख्यानम् इति, 'महे'त्यादि, महतः=सच्चैत्यवन्दनादेः, कल्याणस्य=कुशलस्य, विरोधि–बाधकम् अवज्ञाविप्लवादि, 'न'=नैव, 'चिन्तनीयम्'=अध्यवसेयं, कुत इत्याह 'चिन्तामणी'त्यादि सुगमम् ।

। इति श्री मुनिचन्द्रसूरिविरचितायां ललितविस्तरापञ्जिकायां सिद्धमहावीरादिस्तव· समाप्तः ।

॥ तत्समाप्तौ समाप्ता चेयं ललितविस्तरापञ्जिका ॥

कष्टो ग्रन्थो, मतिरनिपुणा, संप्रदायो न तादृक्,
शास्त्रं तन्त्रान्तरमतगतं सन्निधौ नो तथापि ।
स्वस्य स्मृत्यै परहितकृते चात्मबोधानुरूपं,
मागामागःपदमहमिह व्यापृतश्चित्तशुद्धया ॥ १ ॥
प्रत्यक्षरं निरूप्यास्य ग्रन्थमानं विनिश्चितम् ।
अनुष्टुपे सहस्रे द्वे पञ्चाशदधिके तथा (२०५०) ॥

मङ्गलमस्तु । शुभं भवतु ।

(ल०–ग्रन्थकारान्तिमाभिलापः–)

आचार्यहरिभद्रेण दृब्धा सन्न्यायसंगता । चैत्यवन्दनसूत्रस्य वृत्तिर्ललितविस्तरा ॥१॥
य एनां भावयत्युच्चैर्मध्यस्थेनान्तरात्मना । स वन्दनां सुबीजं वा नियमादधिगच्छति ॥२॥
पराभिप्रायमज्ञात्वा तत्कृतस्य न वस्तुनः । गुणदोषौ सता वाच्यौ प्रश्न एव तु युज्यते ॥३॥
प्रष्टव्योऽन्यः परीक्षार्थमात्मनो वा परस्य वा । ज्ञानस्य वाभिवृद्धयर्थं त्यागार्थं संशयस्य वा ॥४॥
कृत्वा यदर्जितं पुण्यं *मयैनां शुभभावतः । तेनास्तु सर्वसत्त्वानां मात्सर्यविरहः परः ॥५॥

(*प्र०...मयैनां श्रुतभावतः)इति ललितविस्तरानाम चैत्यवन्दन(प्र०..वन्दना)वृत्तिः समाप्ता । कृतिर्धर्म्मतो याकिनीमहत्तरासूनोराचार्यहरिभद्रस्येति ।

(ग्रन्थाग्र १५४५, पञ्जिकाग्रन्थ २१५५, उभयोर्मीलने ३७०० श्लोकमानम्)



उत्तम प्रकाशन

'हिन्दी ललितविस्तरा-विवेचन'

(लेखक-पंन्यास भानुविजय गणी)

इस ग्रन्थ में श्री ललितविस्तरा महाशास्त्र के पद पद पर बहुत सरल व विद्वत्तापूर्ण विवेचन हिन्दी भाषा में किया गया है। इसमें दर्शनमतों का स्पष्टीकरण, सरल तर्कपूर्ण समीक्षा, एवं जैनदर्शन की कई विशेषताएं, अरिहंत परमात्मा का विशिष्ट स्वरूप, जीवन-उत्थान के मार्ग, एवं योग-ध्यान-अध्यात्म, इत्यादि का रोचक प्रेरक विवेचन है। अनेक बार वाचन-मनन-परिणमन करने योग्य यह ग्रन्थरत्न कुटुम्ब-मित्रादि के लिए भी अवश्य संग्रहणीय है। (कि० रु० ८)

'परमतेज' (गुजराती ललितविस्तरा विस्तार)

श्री ललितविस्तरा महाशास्त्र पर पंन्यास भानुविजय गणी द्वारा १० मास सुधी विस्तारथी वांचना अपाई। वाचनानां अवतरणने व्यवस्थित करी बे भागमां प्रकाशित करवानुं निश्चित थयुं। पहेलो भाग बहार पडीगयो छे (कि०, रु० ६)। एमां धर्मनो अधिकारी, ज्ञानप्राप्तिनी प्रक्रिया, अरिहंत परमात्मा तथा जैनशासननी विशिष्टताओ, आत्म उत्थान अने विकासना उपाय, आभ्यन्तर पराक्रमनो मार्ग योग, ध्यान, वगेरे विषयो विस्तारथी छणवामां आव्या छे।

वांचतां पापवासनानी धरती छोडी तत्त्वज्ञानना आसमानमां उडता होइए एम लागे छे। एथी आजना अनेक प्रकारना चित्तक्लेश, संताप, आर्तध्यान अने कषायाग्नि शांत थई जाय छे। बीजो भाग प्रेसमां छे।

'जैनधर्म का सरल परिचय'

(ले०-पं० भानुविजय गणी)

इस छोटे ग्रन्थ में जैन धर्म के ज्ञान सागर को मानो एक गागर में भर दिया है। आत्मा की अवगति उन्नति का इतिहास, विश्व व उसका संचालन, आत्म-तत्त्व के प्रमाण, जीव के प्रकार, जीव का सहज व विकृत स्वरूप, अजीव-पुण्य-पाप आदि तत्त्व, मिथ्यात्व अविरति आदि का स्वरूप, कर्म के भेद, आत्मा की क्रमिक उत्क्रान्ति, मोक्षमार्ग का क्रम, सम्यग्दर्शन, श्रावकधर्म, साधुधर्म योग, तप, ध्यान, प्रमाण-नय-सप्तभंगी, स्याद्वाद...इत्यादि कई विषयों का सरल सुबोध वर्णन इसमें किया गया है। जैन धर्म की अतिप्राचीनता के संबन्ध में कई प्रमाणों का उपन्यास भी है। कि० रु० १॥)। हिन्दी व गुजराती दोनों भाषाओं में उपलब्ध है।

प्राप्तिस्थान — (१) दिव्यदर्शनकार्यालय : कालुशीनीपोल अमदाबाद
(२) विजयकुमार दिलीपकुमार शराफ शिवगंज स्टे० एरणपुरा (राज०)